दोहा—निरगुन तें येहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥ २३॥

अर्थ—इस प्रकार निर्गुण (ब्रह्म) से नाम बड़ा है और उसका प्रभाव अपार है। अब अपने विचारानुसार नामको रामसे बड़ा कहता हूँ॥ २३॥

नोट—१ *'येहि भांति'* अर्थात् जैसा ऊपर दृष्टान्तोंद्वारा *'रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।'* (२१। ४) से लेकर *'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥'* (२३।८) तक उनके गुणोंको बताकर सिद्ध कर दिखाया है।

नोट—२ गोस्वामीजीने पूर्व कहा था कि *'को बड़ छोट कहत अपराधू'* तो यहाँ बड़ा कैसे कह दिया ? इसके विषयमें पूर्व *'को बड़ छोट—'* इस चौपाईमें भी लिखा जा चुका है और यहाँ भी कुछ लिखा जाता है।

गोस्वामीजीने इस प्रश्नका उत्तर *'एहि भांति'* इन दो शब्दोंमें स्वयं ही दे दिया है। पूर्व यह भी कहा था कि *'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू'* सो यहाँतक गुण कहकर दोनोंमें भेद बताया और कहते हैं कि इन गुणोंके भेदको समझकर हमारे मतमें जो आया सो हम कहते हैं, दूसरे जो समझें। भाव यह है कि तत्त्व-परत्वमें नाम-नामी-सरिस हैं पर जो सौलभ्य आदि गुण नाममें हैं वे नामीमें नहीं हैं और नामहीसे नामी भी सुलभ हो जाता है। तत्त्व-परत्वमें, ऐश्वर्य-पराक्रममें, दिव्यगुणोंमें, नाम-नामीमें न कोई बड़ा है न कोई छोटा, दोनों समान हैं, इनमें छोटाई-बड़ाई कहना अपराध है। उपासकोंको नाम सुलभ है; इस गुणसे वे नामको बड़ा कहते हैं।

गोस्वामीजीने यह विचार जहाँ-तहाँ अन्य स्थलोंपर भी दर्शित किया है, यथा *'प्रिय न रामनाम तें जेहि रामौ। भलो ताको कठिन कलिकालहु आदि मध्य परिनामौ॥ राम ते अधिक नाम करतब जेहि किये नगर गत गामो।'* (वि० २२८) श्रीहनुमान्‌जीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'**रामत्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चला मतिः। त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्॥**' (हनुमत्-संहितायाम्) अर्थात् हे श्रीरामजी! मेरा निश्चल मत है कि आपका नाम आपसे बड़ा है। आपने तो एक अयोध्यामात्रको तारा और आपका नाम तीनों लोकोंको तारता है। अतएव गोस्वामीजीसे रहा न गया; उन्होंने कह ही डाला।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—ग्रन्थकारका आशय यह मालूम होता है कि उनको जो ईश्वरकी प्राप्ति हुई है वह न निर्गुणसे और न सगुणसे, किन्तु केवल नामद्वारा हुई है। अतएव वे नामहीको सबसे बड़ा मानते हैं।

बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि—(क) 'गोस्वामीजीने श्रीरामजीके दो स्वरूप दिखाये हैं। जब उन्होंने नामका स्वरूप कहा तब नाम-नामीका अभेद कहा और जब नामका अङ्ग कहने लगे तब कहते हैं कि रामसे नाम बड़ा है। श्रीरामजीके दो स्वरूप हैं—पर और अपर। श्रीमनु-शतरूपाजीके लिये जो अवतार हुआ वह पर है, क्योंकि वह ज्यों-का-त्यों प्रादुर्भूत हुआ है उन्हींके नामकी वन्दनास्वरूप, अङ्ग और फल कहकर की। अन्य तीन कल्पोंके अवतारकी कथा जो आगे कही है वे अपर स्वरूप हैं; क्योंकि उनमें श्रीमन्नारायण और वैकुण्ठवासी विष्णुभगवान् श्रीरामस्वरूपसे अवतरे हैं। गोस्वामीजीने सूक्ष्मरूपसे दोनों स्वरूप यहाँ दिखाये। जब उन्होंने कहा कि *'बंदौं नाम राम रघुबर को'* और फिर कहा कि *'समुझत सरिस नाम अरु नामी'*, तब परस्वरूप दिखाया। और जब कहा कि 'अगुण-सगुण' से नाम बड़ा है तब कहते हैं—*'कहउँ नाम बड़ राम तें।'* सगुण राम अपर-स्वरूप हैं। यदि उन्हीं रामसे बड़ा कहें जिनकी वन्दना करते हैं तो ठीक नहीं; क्योंकि इसमें दो विरोध पड़ते हैं—एक तो पूर्व नाम-नामीको सरिस कहा, दूसरे अगुण-सगुणसे नामको बड़ा कहते हैं। यहाँ प्रकरण अगुण-सगुणका है, सगुण रामसे बड़ा कह रहे हैं। *'बंदौं नाम राम रघुबर'* वाले 'राम' का यहाँ न प्रकरण है न प्रयोजन ही। (मा० प्र०) (ख) क्षीरशायी आदि तथा साकेताधीश परात्पर ब्रह्म रामके अवतारोंके प्रमाण ये हैं—'**ज्ञात्वा**

स्वपार्षदौ जातौ राक्षसौ प्रवरौ प्रिये। तदा नारायणः साक्षाद्रामरूपेण जायते॥' (१), **'प्रतापी राघवसखा भ्रात्रा वै सह रावणः। राघवेण तदा साक्षात्साकेतादवतीर्यते॥'** (२), **'भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्रे नामतो विधिः। विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः ॥'** (१), **संकर्षणस्ततश्चाहं स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्। एकमेव त्रिधा जातं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे॥'** (२), (मा० प्र०) अर्थात् अपने दो श्रेष्ठ पार्षद राक्षस हो गये हैं यह जानकर साक्षान्नारायण श्रीरामरूपसे प्रकट होते हैं। १। श्रीरामजीका सखा प्रतापी जब भाईसहित आकर रावण होता है तब साकेतलोकसे साक्षात् श्रीरामजी उनके उद्धारके लिये अवतीर्ण होते हैं। २। (शिव-सं०), 'पूर्वकालमें विष्णुभगवान् भार्गवरूपसे प्रकट हुए थे, फिर दाशरथी होकर वही (राम) नाम स्वीकार किया है। १। इसी प्रकार मैं सङ्कर्षण नामसे प्रकट होऊँगा। एक ही ब्रह्म सृष्टि-स्थिति-संहारके लिये तीन रूप हुआ है। २।

नोट—३ *'नाम प्रभाउ अपार।'* राम-नाम मन्त्रमें यह भारी प्रभाव है कि निर्गुण ब्रह्मको प्रकट करके जीवोंका कल्याण करते हैं; इसी कारण *'नाम प्रभाव अपार'* कहा और निर्गुणसे नामको बड़ा कहा, क्योंकि उसीके प्रभावसे वह प्रकट होता है। वह स्वयं अपनेको व्यक्त नहीं कर पाता और न दुःख-दीनताको मिटा सके। नामने स्वयंको प्रकाशित किया, हृदयको शुद्ध किया, इन्द्रियनिग्रह किया और मनोनाश सम्पन्न किया। इसके पश्चात् ही ब्रह्मतत्त्व प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूतिमें बाधक मन्त्र, विक्षेप, आवरणके तीनों पर्दे दूर किये। (श्रीचक्रजी)

नोट—४ *'कहउँ नाम बड़ राम तें.....'* इति। (क) अर्थात् अब इसका प्रतिपादन करूँगा कि सगुण ब्रह्म रामसे भी नाम बड़ा है। (ख) नाम और नामीमें अभेद कह आये हैं—*'समुझत सरिस नाम अरु नामी।'* इससे नामका महत्त्वाधिक्य नहीं सिद्ध होता है। अतः गोस्वामीजी नामको रामसे बड़ा बताते हुए कहते हैं कि यह शास्त्रीय बात नहीं है। यह वर्णन तो मेरे विचारके अनुसार है। **'नानापुराणनिगमागम-सम्मतम्'** की बात नहीं है; यहाँ **'क्वचिदन्यतोऽपि'** की बात है। (श्रीचक्रजी)

राम भगत-हित नर-तनुधारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥ १॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होंहिं मुद मंगल बासा॥ २॥

शब्दार्थ—**संकट**=दुःख, क्लेश। **सुखारी**=सुखी। **अनयासा** (अनायास)=बिना परिश्रम, सहज ही। **बासा**=निवास-स्थान, रहनेकी जगह।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी भक्तोंके लिये मनुष्य-शरीरधारी हुए और दुःख सहकर उन्होंने साधुओंको सुखी किया। १। पर, भक्त नामको प्रेमसहित जपते-जपते बिना परिश्रम ही आनन्द-मङ्गलके निवास-स्थान हो जाते हैं। २।

नोट—१ यहाँसे ग्रन्थकार उपर्युक्त वचन *'कहउँ नाम बड़ राम तें'* को अनेक प्रकारसे पुष्ट करते हैं। *'राम भगत हित—।'* (२४। १) सातों काण्डोंका बीज है। २४ (२) *'नामु सप्रेम जपत'* के चरण मूल सूत्रके समान हैं, जिनकी व्याख्या आगे दो दोहोंमें है।

नोट—२ *'भगत हित नर तनु धारी'*, यथा—*'तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी।'* (१। १३), *'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥'* (अ० २६५), *'राम सगुन भए भगत प्रेम बस।'*, *'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र निज रघुकुलमनी।'* (१। ५१), *'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप।'* (७। ७२) दोहा ११६ (२) भी देखिये।

टिप्पणी—१ *'नर तनु धारी'* इति। भाव यह कि नरतन धरनेमें हीनता है। यही समझकर नारदजीने शाप दिया कि *'बंचेहु मोहिं जवनि धरि देहा।.....'* (१। १३७) यदि नरतन धरना उत्तम होता तो यह शाप क्यों कहलाता ? श्रीरामचन्द्रजीको तन धरना पड़ा, इस कथनका भाव यह है कि वह तन सनातन (सदा) यहाँ नहीं रहता और नाम सनातन बना रहता है। सो वे रामजी *'तनुधारी'*

हुए, अर्थात् अपनी प्रतिष्ठासे हीन हुए, ईश्वरसे नर कहलाये, बड़ा परिश्रम करके अनेक शत्रुओंसे लड़कर साधुओंको सुखी किये……।'

नोट—३ विष्णुभगवान्, वैकुण्ठभगवान् और क्षीरशायी श्रीमन्नारायण चतुर्भुज हैं; इनका नरतन धारण करना यह है कि चतुर्भुजरूपसे द्विभुजरामरूप धारण करते हैं। वैकुण्ठादि स्थानोंको छोड़कर पृथ्वीपर अवतीर्ण होते हैं। और, साकेत-विहारी परात्पर परब्रह्म राम नित्य द्विभुज हैं। नारदपाञ्चरात्र, आनन्दसंहिता, सुन्दरीतन्त्र आदिमें इसके प्रमाण हैं, यथा—'**आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च। अमूर्तस्याश्रयो मूर्तः परमात्मा नराकृतिः॥**' (पाञ्चरात्र), '**स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं च द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥**' (आनन्दसंहिता), '**ययौ तथा महाशम्भू रामलोकमगोचरम्। तत्र गत्वा महाशम्भू राघवं नित्यविग्रहम्। ददर्श परमात्मानं समासीनं मया सह। सर्वशक्तिकलानाथं द्विभुजं रघुनन्दनम्॥ द्विभुजाद्राघवान्नित्यात्सर्वमेतत्प्रवर्तते।**' (सुन्दरी तन्त्र), '**यो वै वसति गोलोके द्विभुजस्तु धनुर्धरः। सदानन्दमयो रामो येन विश्वमिदं ततम्॥**' (सदाशिवसंहिता), (वाल्मी० १। १। १ शिरोमणिटीकासे उद्धृत) इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी नित्य द्विभुज नराकृति हैं। उनके *'नर-तनुधारी'* कहनेका भाव यह है कि साकेतसे पृथ्वीपर आविर्भाव होनेपर वे अपने चिदानन्दमय शरीरमें प्राकृत नरवत् बाल्य, युवादिक अवस्थाएँ ग्रहण करते हैं और मनुष्य-सरीखे नरनाट्य चरित करते हैं। दूसरा भाव ऊपर टिप्पणीमें दिया गया है।

नोट—४ ***'सहि संकट'***, यथा—*'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बर्षा बात॥'* (अ० २११)

नोट—५ यहाँ 'राम' से नाममें विशेषता जनानेके लिये ग्रन्थकारने एकके साथ ***'नर तनुधारी'*** और ***'सहि संकट'*** शब्दोंका और दूसरेके लिये ***'अनयासा'*** शब्दका प्रयोग किया है। भाव यह कि श्रीरामजीने अवतार लिया और वनगमन तथा दुष्टोंके दलनमें अनेक कष्ट झेले, तब त्रेतामें साधुओंको सुखी कर सके और नाममहाराज बिना परिश्रम केवल सप्रेम उच्चारण करनेहीसे मुद-मङ्गलका घर ही बना देते हैं कि स्वयं आनन्द लूटें और दूसरोंको भी सुख दें, तरें और तारें।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि—(क) इस प्रसङ्गमें जो एक गुण रूपमें कहा है वही नाममें अनन्त कहा है। क्योंकि जो गुण रूपमें होता है वही नामद्वारा लोकमें प्रसिद्ध होता है। पुनः, नामकी जो प्रशंसा होती है वह रूपमें स्थित होती है; जैसे भक्तमालमें भक्तोंके नामकी प्रशंसा सुनकर सब उनके रूपको धन्य मानते हैं। नाममें विशेषता यह है कि रूप तो एक समय प्रसिद्ध और एक स्थलमें स्थित था। जो-जो गुण उस रूपमें स्थित हैं, अर्थात् अवतार लेकर जो श्रीरामजीने नरनाट्य करते हुए लीलामात्र दुःख सहकर लोगोंको सुखी कर अपने गुण प्रकट किये, उन्हीं गुणोंको लेकर नाम दसों दिशाओंमें चला। जैसे एक मूल (वा, बीज) से कोई बेल ज्यों-ज्यों फैलती है त्यों-त्यों उसकी शाखाएँ बढ़ते-बढ़ते अनन्त हो जाती हैं, जिससे उनके दल, फूल, फल आदिसे लोकका कल्याण होता है। इसी तरह नाम-जप-स्मरणादिसे लोकमात्रका भला है जिससे उस गुणकी अनन्त देशों—स्थलोंमें प्रशंसा होती है। यही गुणका नाममें अनन्त होना है। रूप मूल है, नाम बेल है, गुण शाखा है, गुणका सर्वत्र नामद्वारा फैलना उसका अनन्त होना है; नामका जप-स्मरण आदि उस बेलके दल, फूल, फलादिका सेवन करना है। (ख)—*'नाम सप्रेम जपत……'* इति। पूर्व अर्धाली *'राम भगत हित……'* के अन्तर्गत यावत् गुण (उदारता, वीरता आदि) हैं, वे सब नाममें हैं। नामके भीतर रूपका प्रभाव सदा रहता है, यह लोकमें प्रसिद्ध देखा जाता है, क्योंकि धर्मात्माओंका नाम लोग स्मरण कर अपने-अपने व्यापारमें लगते हैं, अधर्मीका नाम कोई नहीं लेता।

नोट—६ यहाँसे लेकर ***'नाम प्रसाद सोच नहीं सपने।'*** (२५। ८) तक 'अर्थान्तरन्यास लक्षण' अलङ्कार है। क्योंकि पहले साधारण बात कहकर उसका समर्थन विशेष उदाहरणसे किया गया है। पं० महावीरप्रसाद

वीरकवि लिखते हैं कि 'यहाँ उपमान रामचन्द्रसे उपमेय रामनाममें अधिक गुण कहना कि रामचन्द्रजीने नर-तन धारण किया……। यह व्यतिरेक अलङ्कार है।'

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥ ३॥

शब्दार्थ—**एक**=केवल, गिनतीका एक। **तापस**=तपस्वी (यहाँ गौतम ऋषिसे तात्पर्य है)। **तापस-तिय**= गौतम ऋषिकी स्त्री, अहल्या। **सुधारी**=शुद्ध किया, भगवत्-विमुखका भगवत्-सन्मुख करना, सन्मार्गपर लगाना 'सुधारना' है। **तारना**=उद्धार करना, सद्गति देना, भवपार करना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने एक तपस्वी गौतमकी (वा, एक तपस्विनी) स्त्रीहीको तारा और नामने करोड़ों दुष्टोंकी कुमतिको सुधारा। ३।

नोट—१ अहल्याजीकी कथा दोहा २१० (१२) में देखिये। संक्षिप्त कथा यह है कि इन्द्र इसके रूपपर मोहित था। एक दिन गौतमजीके बाहर चले जानेपर वह उनके रूपसे अहल्याके पास आया और उसके साथ रमणकर शीघ्र चलता बना। उसी समय मुनि भी आ गये। उसे अपना रूप धारण किये देख उससे पूछा कि तू कौन है और जाननेपर कि इन्द्र है, उन्होंने उसे शाप दिया। फिर आश्रममें आकर अहल्याको शाप दिया कि तू पाषाण होकर आश्रममें निवास कर। जब श्रीरामजी आकर चरणसे स्पर्श करेंगे तब तू पवित्र होकर अपना रूप पायेगी।

नोट—२ पहलेमें ***'एक'*** और वह भी ***'तपस्वी'*** ऋषिकी स्त्री, और दूसरेमें ***'कोटि'*** और वह भी ***'खल'*** (दुष्टों) की कुमतिरूपिणी स्त्री कहकर दूसरेकी विशेषता दिखायी। ***'तापस-तिय'*** से जनाया कि तपस्वी स्त्री तो तरने योग्य ही है, उसका तारना क्या! अधमका तारना काम है। रूपकी प्राप्ति सब काल अगम है और नाम सर्वत्र सुलभ है, इसीसे यह अनन्त लोगोंका उद्धार करता है।

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'अहल्या अज्ञातसे परपुरुष-सङ्ग करनेसे दुष्ट हुई थी। यह खलोंकी कुमतिरूपी स्त्री परनिन्दादि अनेक दोषोंसे भरी हुई होती है। इसलिये एक और कोटिमें जितना अन्तर है उतना ही राम-ब्रह्म और उनके नाममें अन्तर है किन्तु अहल्यामें अल्प दोष और खलकुमतिमें अधिक दोष होनेसे कोटि-अधिक दोष-निवृत्ति करनेवाला नाम, एक—अल्पदोषयुक्त अहल्याके तारनेवाले रामसे अनन्तगुण अधिक है।'

श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि अहल्याने इन्द्रको अपना पति समझकर ही उनकी सेवा की, उसकी बुद्धिमें कोई दुर्भावना न थी। गौतमने उसे शाप दिया कि तेरी बुद्धि पत्थरके समान है। तू देवता और मनुष्यका भेद न जान सकी, तू पत्थर हो जा। देवताओंकी परछाईं नहीं पड़ती, अहल्याने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। अहल्याका यह दोष बौद्धिक प्रमाद था, ऐसी भूलें अच्छे बुद्धिमानोंसे हो जाया करती हैं। वह पाषाण हो गयी किन्तु थी वह पवित्र। नामकी स्थिति दूसरी है। नामने जिनका उद्धार किया वे सब 'खल' थे, जान-बूझकर दुष्टता करना उनका स्वभाव था। उनकी बुद्धि 'कुमति' थी। उसमें प्रमाद नहीं था…… वह तो कुकर्मको ही ठीक बतानेवाली थी। [पर वाल्मीकीयके अनुसार अहल्याने जान-बूझकर यह घोर पाप किया था। यथा—'**मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥**' (१। ४८। १९) इतना ही नहीं किन्तु उसने इस कर्मसे अपनेको कृतार्थ माना। यथा—'**अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना। कृतार्थास्मि**……।' (२०) इसीसे गोस्वामीजीने आगे ***'कृत अघ भूरी'*** शब्द उसके लिये लिखे हैं। अ० र० में केवल इतना लिखा है कि इन्द्रने गौतमके रूपसे उसके साथ रमण किया। अहल्याने जाना या नहीं, इस सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है।]

नोट—३ यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग' है। (वीर कवि)

श्रीबैजनाथजी—(क) दिशाएँ दस हैं। इसीसे अब यहाँसे केवल दस गुण-नामद्वारा कहेंगे। अहल्याके उद्धारमें 'उदारता' गुण प्रकट हुआ। देश-काल, पात्र-अपात्र कुछ भी न विचारकर निःस्वार्थ याचकमात्रको मनोवाञ्छित देना उदारता है। यह गुण इसी चरितमें है क्योंकि वह तो पाषाण थी, न तो दर्शन ही कर

सकती थी और न प्रणाम। औरोंके उद्धारमें दर्शन या प्रणामादि कुछ हेतु प्रथम हुए तब उनका उद्धार हुआ और अहल्यामें वे कोई हेतु न थे; उसका उद्धार निःस्वार्थ और निर्हेतु था। यथा—*'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।'* (१। २११) (ख) उदारता-गुण, यथा—भगवद्‌गुणदर्पणे, '**पात्राऽपात्राविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः॥**' (अर्थ ऊपर आ गया है।)

नोट—४ यहाँसे नाम-साधनाका क्रम चलता है। मनुष्यकी बुद्धि ही दूषित होती है। दुष्टता-अपकर्मकी जड बुद्धि है। बुद्धि बुरे कर्मोंमें भलाई देखने लगती है। पाप करनेमें सुखानुभव होता है और उसीमें उन्नति जान पड़ती है। भगवन्नामके जपसे वह दुर्बुद्धि प्रथम सुधरती है। पाप कर्मोंमें दोष दीखने लगता है। स्वभाववश अपनी दुर्बलताके कारण वे छोड़े भले ही न जा सकें, परन्तु उनमें पतन दीख पड़ता है। वे अनुचित हैं, उनसे हानि होती है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। बुद्धि धोखा नहीं देती। दुष्कृत्य करके पश्चात्ताप होता है। इस प्रकार नाम-जप बुद्धिको पहले विशुद्ध करता है। (श्रीचक्रजी)

रिषि हित राम सुकेतु-सुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥ ४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा॥ ५॥

शब्दार्थ—**सेन**=सेना। **बिबाकी**=बे+बाकी=निःशेष, समाप्त। **दलइ**=दलता, नष्ट करता है।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने तो विश्वामित्रजीके लिये सुकेतु यक्षकी कन्या (ताड़का) को सेना और पुत्र-समेत समाप्त किया। ४। पर नाम दासोंकी दुराशाओंको दुःख-दोषसहित इस तरह नाश करता है जैसे सूर्य रात्रिका (नाश बिना श्रम सहज ही कर डालता है)। ५।

नोट—१ *'रिषि हित'* इति। (क) ऋषिसे श्रीविश्वामित्रजीका तात्पर्य है, क्योंकि इन्हींके लिये ताड़का आदिका वध किया गया। (ख) वीरोंके लिये स्त्रियोंका वध 'निषिद्ध' है; इसलिये *'रिषि हित'* मारना कहकर सूचित किया कि मुनिकी आज्ञासे उनके हितके लिये उसे मारा। ऋषिकी रक्षा न करनेसे क्षत्रियधर्ममें बट्टा लगता। अतएव दोष नहीं है।

नोट—२ सुकेतु एक बड़ा वीर यक्ष था। इसने सन्तानके लिये बड़ी तपस्या करके ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया। उनके वरदानसे इसके ताड़का कन्या हुई जिसके हजार हाथियोंके सदृश बल था। यह सुन्दको ब्याही थी। मारीच इसका पुत्र था। जब सुन्दको महर्षि अगस्त्यने किसी बातपर क्रुद्ध होकर शाप देकर मार डाला, तब यह अपने पुत्रोंको लेकर ऋषिको खाने दौड़ी, उसपर दोनों उनके शापसे घोर राक्षस-योनिको प्राप्त हुए। तबसे वह विश्वामित्रके आश्रममें मुनियोंको दुःख दिया करती थी। (वाल्मीकीय) विशेष १। २०९ (५)में देखिये।

नोट—३ *'सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी'* इति। श्रीरामजीने ताड़का और सुबाहुको मारा पर मारीचको बचा दिया था, यथा—*'बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥'* (१। २१०) इस विचारसे दो-एक टीकाकारोंने *'बिबाकी'* का भाव यह लिखा है कि—(क) बि=पक्षी। *'बिबाकी'* पद देकर जनाया कि उड़नेवाला मारीच बाकी रह गया। (सू० मिश्र) (ख) मारीचको विशेष बचा रखा (मा० मा०) पर यह अर्थ चौपाईमें लगता नहीं। *'सुत'* से *'सुबाहु'* ही ले लिया जाय तो भी हर्ज नहीं। आश्रममें एक भी न रह गया वहाँसे सबको निःशेष कर दिया!

नोट—४ *'सहित दोष दुख दास दुरासा……'* इति। यहाँ ताड़का उसके पुत्र और सेना क्या हैं ? उत्तर—(क) दासकी बुरी आशाएँ दुर्वासनाएँ, ताड़का हैं। जैसे, ताड़का ऋषिका अनहित करती थी, वैसे ही दुराशा दासके विश्वासको जड़से उखाड़ फेंकती है। जब भक्त औरोंकी आशा करने लगा तब जान लो कि उसका विश्वास जाता रहा, और *'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।'* इसी प्रकार, *'अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची'* (वि० १६३) में आशाको पिशाची कहा है। जब आशा नहीं रहती तब हृदय निर्मल रहता है, यथा—*'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि*

सब आसा॥' (कि० १६) पुनः यथा—***'जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥'*** (वि० १६८) (ख) वहाँ ताड़काके दो पुत्र मारीच और सुबाहु, यहाँ दुराशाके दो पुत्र, दोष और दुःख। दुराशासे दोष और दुःख उत्पन्न होते हैं। (ग) सेनाका लक्ष्य ***'सहित'*** शब्दसे ध्वनित हो सकता है। सहित=स+हित=हितके सहित=हितैषी जो सेना उसके समेत। ***'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि'***—यही दुःखदोषकी उत्साह बढ़ानेवाली सेना है।

नोट—५ यहाँ नाममें विशेषता दिखानेके विचारसे एकमें ***'रिषिहित, 'सुकेतुसुता'*** और ***'बिबाकी'*** और दूसरेमें ***'दलइ जिमि रबि निसि नासा'*** शब्दोंका प्रयोग हुआ। भाव यह कि विश्वामित्र ऋषिकी आज्ञासे उनके हितके लिये मारा; समस्त अस्त्र-शस्त्रविद्यामें निपुण और फिर ऋषि! वे तो स्वयं मार सकते थे, ये तो केवल निमित्तमात्र हुए। पुनः, ऋषिहितमें अपना भी स्वार्थ सिद्ध होना था, क्योंकि न मारते तो गुरु और पिता दोनोंकी अवज्ञा होती और जनकपुरमें विवाह क्योंकर होता ? ***'सुकेतुसुता'*** से सूचित किया कि उसका पति भी न था, वह विधवा थी (नहीं तो पतिका नाम देते)। पुनः, मारीच मारा न गया वह बच रहा था और यहाँ दोष, दुःख, दुराशा तीनोंमेंसे कोई भी शेष नहीं रह जाता, जैसे सूर्यके उदयसे रात्रिका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। पुनः सूर्य लाखों योजन दूर होनेपर भी बिना परिश्रम अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही नाम दूरहीसे सब काम कर देता है। रामचन्द्रजीने तो निकट जानेपर इन्हें मारा, पर नाममहाराज तो इन्हें निकट ही नहीं आने देते।

श्रीचक्रजी—(क) श्रीरामद्वारा केवल उपस्थित विघ्नका नाश हुआ। आगे कोई राक्षस विघ्न न करेगा ऐसी कोई बात यहाँतक नहीं हुई। नाम-जापकके धर्मकी सदाके लिये निर्विघ्न रक्षा करता है। मनुष्यके धर्ममें बाधक हैं उनके दोष और दोष आते हैं दुःखके भयसे। दुःखसे छूटकर सुख पानेकी दुराशासे ही मनुष्य दोष करता है। (ख) पूर्व कह आये कि नामके जपसे प्रथम बुद्धि शुद्ध होती है पर बुद्धि शुद्ध होनेपर भी उसके निर्णयके विपरीत असत्कर्म अभ्यास-लोभादि अनेक कारणोंसे हो सकते हैं। अतः यहाँ बताते हैं कि नामजपका दूसरा स्तर है 'दोषोंका नाश'। बुद्धिके निर्णय कार्यमें आने लगते हैं। असत्कर्म, असदाचरण, अनीति, अन्याय छूट जाता है। (ग) दोषोंके छूट जानेपर भी मनमें अभावजन्य दुःख रहता है। पदार्थोंके मिलने या नष्ट होनेपर मनमें सोच होना दोषोंका बीज है। नाम-जप इस दुःखको नष्ट कर देगा। इस तीसरे स्तरमें जापक प्रभुका विधान एवं प्रारब्ध समझकर सदा सन्तुष्ट रहता है। (घ) दुःखके पश्चात् भी दुराशा रहती है। साधक अपने साधनके फलस्वरूप अनेक कामनाएँ प्रभुसे करता है, यह भी दुराशा है। नाम इस दुराशाका नाश करता है। जापक किसी लौकिक-पारलौकिक वैभवमें सुखकी आशा नहीं करता। सुखाशा न रहनेपर उधर आकर्षण हो नहीं सकता। इस तरह नाम जापकके धर्मकी सदाके लिये रक्षा करता है।

बैजनाथजी—यहाँ ***'रिषिहित—बिबाकी'*** में प्रभुका 'वीर्य' (वीरता) गुण दिखाया है। क्योंकि अभी एक तो किशोरावस्था थी, दूसरे बालकेलिके धनुष-बाण धारण किये हुए हैं, तीसरे साधारण भी युद्ध अभीतक नहीं देखा था और चौथे एकाएक विकट भटोंका सामना पड़ गया तब भी मुखपर उदासीनता न आयी, मुख प्रसन्न ही बना रहा। इत्यादि, मनमें उत्साहसे वीररसकी परिपूर्णता है। (ख) भगवद्गुणदर्पणे, यथा—'**वीर्यं चाक्षीणशक्तित्वं वर्द्धमानातिपौरुषम्। अपि सर्वदशास्थस्य रामस्याविकृतिश्च तत्॥**', '**त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातिः सर्ववीरोपलक्षणा॥**' अर्थात् श्रीरामजीकी शक्ति कभी क्षीणत्वको प्राप्त नहीं हुई, सदा अक्षीण है, उनका पौरुष अत्यन्त वर्द्धमान होता है और सर्व दशाओंमें वे निर्विकार रहते हैं—इसी गुणको वीर्य कहते हैं। कोई त्यागवीर होता है, कोई दयावीर, कोई विद्यावीर, कोई पराक्रममें महावीर और कोई धर्मवीर ही होता है पर श्रीरामजी इन पाँचों वीरताओंमें परिपूर्ण हैं। 'रघुवीर' यह कथन पाँचों वीरोंका उपलक्षण है, अर्थात् पाँचों वीरताओंसे युक्त होनेसे 'रघुवीर' कहा गया है। (ग) इस प्रसङ्गमें

भी पाँचों वीरताएँ हैं—पिताकी आज्ञा, ऋषिका हित और यज्ञकी रक्षामें 'धर्मवीरता'। ऋषियोंको खल सताते थे, उनकी करुणा मिटानेके लिये 'दयावीरता'। युद्धमें प्रसन्नतासे 'युद्धवीरता'। माता-पिताके त्यागमें भी प्रसन्न बने रहनेमें 'त्यागवीरता'। एक ही बाणसे सुबाहुको जला दिया इत्यादिमें 'बाण-विद्या-वीरता'। ये रूपमें प्रकट हुईं। यही सब गुण नामद्वारा संसारभरमें विस्तृत हुए। (घ) *'दलइ नाम जिमि रबि……'* में तेज-गुण दिखाया। शौर्य, वीर्य और तेज ये 'प्रताप' के ही अंग हैं।

नोट—६ 'प्रथम ताड़का-वध है, दूसरे उसमें ऋषिका हित भी है; उसको पहले न कहकर यहाँ प्रथम अहल्योद्धार कहा गया, यह क्रम-भंग क्यों ? यह शंका उठाकर उसका समाधान यों किया गया है कि—(क) प्रभुका सर्वोत्तम गुण 'उदारता' एवं 'कारण-रहित कृपालुता' है जो अहल्याके उद्धारमें पूर्ण रीतिसे चरितार्थ हुआ, औरोंके उद्धारमें कुछ-न-कुछ स्वार्थ भी लक्षित हो सकता है। पुनः (ख) इससे श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य और ब्रह्मत्व भी प्रकट होता है, यथा—*'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं।'* (बा० २२३), *'परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥'* पुनः वह ब्रह्माजीकी कन्या, गौतम महर्षिकी पत्नी और पञ्चकन्याओंमेंसे है।* अतएव सब प्रकार माङ्गलिक जान उसको प्रथम कहा। पुनः, (ग) यहाँ प्रकरणके विचारसे क्रम-भंग नहीं है। यह नामयशका प्रकरण है, रामयशका नहीं। अतः प्रधानता नामचरित्रकी है, रामचरित्र तो एक प्रकार दृष्टान्तमात्र है। यदि दुराशाके नाशके पीछे कुमतिका सुधरना कहते तो क्रम उलटा हो जाता; क्योंकि बिना कुमतिका सुधार हुए दुराशाका नाश असम्भव है। यहाँ वही क्रम रखा गया है जो भवनाशका है। अर्थात् इसमें प्रथम कुमतिका सुधार होता है तब दुराशा एवं दुःखदोषका नाश होता है और तभी भवभय छूटता है। कुमतिके रहते दुराशा आदि तो बढ़ते ही जाते हैं जिससे भवभय छूट ही नहीं सकता। श्रीरामनामके प्रतापसे कुमति, दुराशा आदिका क्रमशः नाश होता है। आगे भवनाश कहते ही हैं। दोहा २८ (८) टिप्पणी देखिये। पुनः, (घ) प्रभुने अवतार लेकर प्रथम उदारता-गुण ही प्रकट किया कि जीवमात्रको भवसागरसे पार कर दें, तब वेदोंने आकर प्रार्थना की कि मर्यादा न तोड़िये, जो कोई किञ्चित् भी भक्ति करे उसीका उद्धार कीजिये, तब प्रभुने प्रतिज्ञा की कि जो तन-मनसे रूपके दर्शनमात्र या नामका उच्चारणमात्र करे उसका उद्धार कर देंगे। ऐसा भगवद्गुणदर्पणमें कहा है। निर्हेतु उद्धार अहल्याहीका है—यह उदारता-गुण इसीमें प्रकट हुआ। इसलिये उसीको प्रथम रखा। (बैजनाथजी)

भंजेउ राम आपु भवचापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू॥ ६॥

शब्दार्थ—**भंजना**=तोड़ना। **आपु**=स्वयं, अपनेहीसे। **भव**=शिवजी। **चाप**=धनुष। **भव**=संसार; जन्ममरण, आवागमन।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं ही *'भव'* (शिवजी) का धनुष तोड़ा और नामका प्रताप आप ही *'भव'*-भयको नाश कर देनेवाला है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) भव-चाप श्रीरामजीसे ही टूटा, वैसे ही भव-भयका नाश श्रीरामनाम ही करते हैं, अन्य कोई नहीं कर सकता। 'भव-चाप' से 'भव-भय' अधिक है। (ख) यहाँ नाममें यह विशेषता दिखायी कि श्रीरामजीको जनकपुर स्वयं जाना पड़ा तब धनुष टूटा, ऐसा नहीं हुआ कि उनकी दृष्टि पड़नेसे ही वह टूट जाता, और यहाँ 'नाम' महाराजका प्रताप ही सब काम कर देता है। पुनः, भव-भय अति

---

* अहल्यादिको लोग पञ्चकन्या कहते हैं। वे प्रातः स्मरणीय तो हैं ही। शुद्ध श्लोक यह है—'अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा। पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्।' अर्थात् अहल्या, द्रौपदी आदि यह पञ्चक मनुष्य नित्य स्मरण करे, यह महापातकका नाशक है। 'पञ्चकं ना' का अपभ्रंश होकर पञ्चकन्या हो गया। बस इसीका लोगोंमें व्यवहार हो गया। आह्निक सूत्रावलि प्रथम भागकृत्य पुण्यश्लोक जनस्तुति ८२। आचारमयूखसे उद्धृत। ऋग्वेदीय ब्रह्मकर्म-समुच्चय आह्निक आचार प्रकरण, प्रातःस्मरण श्लोक ६। इन दोनोंमें कुन्तीकी जगह 'सीता' शब्द है। शेष श्लोक इन दोनोंमें ऐसा ही है। सम्भव है कि 'कुन्ती' का नाम 'सीता' भी हो।

दुस्तर है, नाम उसे नाश ही कर डालता है, जैसा प्रह्लादजीने कहा—'**रामनाम जपतां कुतो भयम्।**' (क० उ० ७०) में भी नामके प्रतापको प्रभुसे बड़ा कहा है, यथा—'***प्रभुहू तें प्रबल प्रताप प्रभु नाम को।***' [(ग) '***भव***' शब्द ध्यान देनेयोग्य है। शङ्करजीने इस धनुषसे त्रिपुरका विनाश किया था। यह दण्ड एवं भयका प्रतीक है। '***भवभय***'—शङ्करजीके और भी भयदायक आयुध हैं जिनमें त्रिशूल मुख्य है। श्रीरामजीने एक धनुष तोड़ा पर उनके त्रिशूल आदि अन्य भयप्रद आयुध बने ही रहे और नामका प्रताप '***भवभय***' को ही नष्ट कर देता है, आयुध रहें तो रहा करें, किंतु वे भयप्रद नहीं होते। शङ्करजी प्रलयके अधिष्ठाता हैं और नामजापकोंके परमादर्श परम गुरु हैं। नामजापकोंकी उनके द्वारा रक्षा होती है; अतः मृत्यु या प्रलय आदिका भय जिसके वे अधिष्ठाता हैं, नामके प्रभावसे ही नष्ट हो जाता है। (श्रीचक्रजी)]

नोट—१ द्विवेदीजी '***भव भय भंजन***' का भाव यों लिखते हैं कि 'नामका प्रताप संसारभरके शापके भयको भञ्जन करता है। वा, नाम-प्रताप साक्षात् भव (महादेव) हीके भयको भञ्जन करता है। कथा प्रसिद्ध है कि विष पीनेके समय विषसे मर न जायँ इस भयसे महादेवजीने रामनाम स्मरण कर तब विषको पिया, इस बातको गोस्वामीजी पूर्व दोहा १९ (८) '***नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥***' में लिख आये हैं।

बैजनाथजी—(क) भवचाप तोड़नेमें '***आपु***' कहा। भाव यह कि अस्त्र-शस्त्र-विद्यादि किसी उपायसे नहीं तोड़ा, किंतु अपने करकमलसे तोड़ डाला और उसमें किञ्चित् परिश्रम न हुआ। इसमें श्रीरामजीका 'बल' गुण प्रकट हुआ, यथा—'***तव भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥***' (१। २३९), '***संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु।***' (१। २६१) 'बल' गुणका यही लक्षण है, यथा-भगवद्गुणदर्पणे—'**व्यायामस्य गुर्व्यां तु खेदाभावो बलं गुणः।**' (ख) यहाँ श्रीरामजीमें एक स्थानपर 'बल' दिखाया, वही गुण नाममें अनन्त स्थलोंमें दिखाया। (ग) '***भवभयभंजन***' यह नामका प्रताप है, नामके प्रतापसे भवभयभंजन सदा होता ही रहता है। उसका कारण यह है कि शौर्य-वीर्य-बल-तेज-उदारतादि गुणोंकी क्रिया जो रूपसे प्रकट हुई, वही नामके साथ लोकोंमें फैल गयी। वही यश वा कीर्त्ति है। कीर्त्तिको सुनकर जो शत्रुके हृदयमें ताप होता है और संसार स्वाभाविक ही डरने लगता है, उसीको 'प्रताप' कहते हैं। यथा—'***जाकी कीरति सुयश सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डरात सब आपही कहिये ताहि प्रताप॥***' रूपके गुण नामके संगमें 'प्रताप' कहलाते हैं।

श्रीचक्रजी—नामके द्वारा क्रमशः बुद्धिशोधन, दोष-नाश, दुःख-परिहार, दुराशा-क्षय कह आये। यह उसके प्रतापसे भवभयका नाश कहा। त्रिशूल, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप एवं मृत्यु, प्रलय, विनाश ये नाम-जापकको भयभीत नहीं करते। भव (संसार) में ऐसा कोई भय नहीं रह जाता जो उसे डरा सके। सम्पूर्ण जगत् उस दयामय, मङ्गलधाम, प्रभुकी क्रीड़ा है। प्रत्येक कार्य, प्रत्येक परिस्थिति उसी करुणासागरके सुकुमार करोंकी कृति है।""माता हँसे या बड़ा-सा मुख फैलाये, बच्चेके लिये तो दोनों क्रीड़ाएँ उसे हँसानेका ही कारण हैं।

भव-भयको भव-चापसे तुलनामें लाकर गोस्वामीजीने यहाँ अद्‌भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। भगवान् शङ्कर वही हैं, परन्तु भक्तोंके लिये वे शिव, कल्याण-धाम, कुन्द-इन्दु-दर गौर सुन्दर हैं और दुष्टोंके लिये, संसाररत जीवोंके लिए प्रलयङ्कर, महारुद्र, महाकाल हैं। इसी प्रकार संसार भी वही है, किन्तु साधारण प्राणियोंके लिये उसमें विनाश-ही-विनाश है, दुःख-ही-दुःख है। अत्यन्त भयप्रद है संसार, परन्तु नाम-जापकके लिये तो भवका भय नष्ट हो जाता है। भव-भयप्रद नहीं रहता। यह तो उसके करुणामय प्रभुकी परम मञ्जुल क्रीड़ा है और है भी उसीको प्रसन्न करनेके लिये। ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी यह संसार उसके लिये आनन्ददायी, पवित्र, आह्लादमय हो जाता है।

नोट—२ '***प्रताप***' का भाव यह है कि नामका आभासमात्र आवागमनको छुड़ा देता है। जैसे यवनने

'हराम' शब्द कहा परन्तु उसमें 'राम' शब्द होनेसे वह तर गया, अजामिलने अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा, न कि भगवान्‌को, इत्यादि नामके प्रमाण हैं। (देखिये क० उ० ७६)

नोट—३ यहाँ मूलमें धनुष-भङ्गके पश्चात् दण्डकारण्यकी कथाका रूपक गोस्वामीजीने दिया है। अयोध्याकाण्ड समग्र छोड़ दिया, उसमेंसे कोई प्रसङ्ग न लिया। इसका कारण पं० रामकुमारजी यह लिखते हैं कि 'मुनियोंकी रीति है कि प्रायः यह काण्ड छोड़ देते हैं। अथवा, इस काण्डको श्रीभरतजीका चरित्र समझकर छोड़ा। अथवा, इस काण्डमें कोई दृष्टान्त न मिला इससे छोड़ा। जैसा कि रावण-मारीच-संवाद और रावण-हनुमान्-संवाद इत्यादिमें मारीच और श्रीहनुमान्‌जी आदिने किया है। यथा—'*जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड।*' (३। २५), '*धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥ हर कोदंड कठिन जेहिं भंजा। तोहि समेत नृपदल-मद गंजा॥ खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥*' (५। २१) मन्दोदरीजीने भी बालकाण्डके पश्चात् अरण्यकाण्डकी कथा कही है, यथा—'*पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अगजगनाथ अतुल बल जानहु॥*', '*बान प्रताप जान मारीचा।*'''''*भंजि धनुष जानकी बिबाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ सुरपतिसुत जानै बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा॥ सूपनखा कै गति तुम्ह देखी॥*''''' ' (६। ३६) इत्यादि।

पं० शिवलाल पाठकजी इसका कारण यह कहते हैं कि—'इन कथाओंका रूपक नाममें नहीं है। अतएव इन प्रसङ्गोंको छोड़कर दण्डकारण्यके पवित्र होनेकी कथा कही; क्योंकि नाम भक्तोंकी रसनापर स्थित हो भय नाश करता है और मनको पवित्र करता है।' (मानस मयङ्क) अथवा, पद्मपुराण श्रीरामाश्वमेध प्रसङ्गमें कहा है '**षट्काण्डानि सुरम्याणि यत्र रामायणेऽनघ। बालमारण्यकं चान्यत्किष्किन्धा सुन्दरं तथा॥ युद्धमुत्तरमन्यच्च षडेतानि महामते।**' (पाताल ६६। १६४) अर्थात् वाल्मीकीयरामायणमें अत्यन्त सुन्दर छः काण्ड हैं—बाल, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध और उत्तर। इससे यह भाव निकलता है कि अयोध्याकाण्ड करुणरसपूर्ण होनेसे 'सुरम्य' न मानकर उसका उल्लेख नहीं किया गया। (पं० रा० कु०)

बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि बालकाण्डका विवाहादि शेष चरित धनुर्भङ्गके अन्तर्गत है, यथा—'*टूटतही धनु भयो बिबाहू।*' और समस्त अयोध्याकाण्ड और आधा अरण्यकाण्ड 'दण्डकवनपावनतान्तर्गत' है। अथवा, यहाँ काण्डक्रम नहीं है, नामका अधिक प्रताप वर्णन ही अभीष्ट है। अयोध्याकाण्ड माधुर्यचरितसे परिपूर्ण है, इसमें ऐश्वर्य नहीं है और यहाँ प्रसङ्ग प्रतापका है; अतः जहाँ-जहाँ प्रतापके प्रसङ्ग हैं, वहाँ-से लिये गये।

दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किय पावन॥ ७॥

अर्थ—प्रभु (श्रीरामजी) ने दण्डकवनको सुहावना (हरा-भरा) कर दिया। और, नामने अमित (अनन्त) प्राणियोंके मनको पवित्र कर दिया। ७।

नोट—१ '*दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन*' इति। '*सुहावन*' अर्थात् (क) हरा-भरा जो देखनेमें अच्छा लगे। भाव यह कि निशाचरोंके वहाँ रहनेसे और फल-फूल न होनेसे वह भयावन था, सो शोभायमान हो गया। यथा—'*जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन दिन प्रति अति होत सुहाए॥*' (३। १४) (ख,) पुनीत, पवित्र; यथा—'*दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।*' (३। १३), '*दंडक पुहुमि पायँ परसि पुनीत भई उकठे बिटप लागे फूलन फरन।*' (वि० २५७)

श्रीबैजनाथजी—दण्डकवनको सुहावना कर देना, यह निःस्वार्थ जीवोंका पालन करना 'दया' गुण है। यथा, भगवद्गुणदर्पणे—'**दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।**' पुनश्च '**प्रतिकूलानुकूलोदासीन-सर्वचेतनाचेतनवस्तुविषयस्वरूपसत्तोपलम्भनरूपदालनानुगुणव्यापारविशेषो हि भगवतो दया**' अर्थात् दयावानोंकी उस दयाको दया कहा जायगा जिसमें स्वार्थका लेश भी न हो। रूपमें जो यह दयालुता प्रकट हुई, उसी गुणको नामने लोकमें फैला दिया। उस दयाकी प्याससे अनेक लोग दयालु प्रभुका नाम-स्मरण करने लगे और पवित्र हो गये। इसीसे अमित जनोंके मनका नामद्वारा पावन होना कहा।

नोट—२ दण्डकवन एक है और जनमनरूपी वन 'अमित' यह विशेषता है।

नोट—३ श्रीजानकीशरणजीका मत है कि जैसे इक्ष्वाकुपुत्र दण्ड शुक्राचार्यजीके शापसे दण्डकवन हो गया, उसी प्रकार जन-इक्ष्वाकुका मन दण्ड है, वेदोंकी अवज्ञा करके कुत्सित मार्गमें उसने गमन किया है, इससे वेदरूपी शुक्राचार्यके शापसे दण्डके सदृश भ्रष्ट हो रहा है। ऐसे अनेकोंको नामने पवित्र किया। (मा०मा०) ['दण्ड' ही दण्डकवन हो गया इसका प्रमाण कोई नहीं लिखा कि किस आधारपर ऐसा कहा है। (मा० सं०)]

नोट—४ '*दंडक बन*' इति। श्रीइक्ष्वाकुमहाराजका कनिष्ठ पुत्र दण्ड था। इसका राज्य विन्ध्याचल और नीलगिरिके बीचमें था। यहाँके सब वृक्ष झुलस गये थे, प्रजा नष्ट हो गयी और निशिचर रहने लगे। इसके दो कारण कहे जाते हैं—(१) एक तो गोस्वामीजीने अरण्यकाण्डमें '*मुनि बर साप*' कहा है, यथा—'*उग्र साप मुनिबर कर हरहू।*' कथा यह है कि एक समय बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। ऋषियोंको अन्न-जलकी बड़ी चिन्ता हुई। सब भयभीत होकर गौतमऋषिके आश्रमपर जाकर ठहरे। जब सुसमय हुआ तब उन्होंने अपने-अपने आश्रमोंको जाना चाहा, पर गौतम महर्षिने जाने न दिया, वरंच वहीं निवास करनेको कहा। तब उन सबोंने सम्मत करके एक मायाकी गऊ रचकर मुनिके खेतमें खड़ी कर दी। मुनिके आते ही बोले कि गऊ खेत चरे जाती है। इन्होंने जैसे ही हाँकनेको हाथ उठाया वह मायाकी गऊ गिरकर मर गयी, तब वे सब आपको गोहत्या लगा चलते हुए। मुनिने ध्यान करके देखा तो सब चरित जान गये और यह शाप दिया कि तुम जहाँ जाना चाहते हो, वह देश नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। आपका आश्रम नर्मदा नदी अमरकण्टकके जिस कुण्डसे निकली है वहाँपर था। आपने अपने तपोबलसे यह कुण्ड निर्माण किया था। [इस कथाका मूल अभी हमको नहीं मिला है।]

(२) दूसरी कथा यह है—पूर्वकालके सत्ययुगमें वैवस्वत मनु हुए। वे अपने पुत्र इक्ष्वाकुको राज्य-पर बिठाकर और उपदेश देकर, कि 'तुम दण्डके समुचित प्रयोगके लिये सदा सचेष्ट रहना। दण्डका अकारण प्रयोग न करना।', ब्रह्मलोकको पधारे। इक्ष्वाकुने बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये। उनमेंसे जो सबसे कनिष्ठ (छोटा) था, वह गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ था। वह शूरवीर और विद्वान् था और प्रजाका आदर करनेके कारण सबके विशेष गौरवका पात्र हो गया था। इक्ष्वाकुमहाराजने उसका नाम 'दण्ड' रखा और विन्ध्याचलके दो शिखरोंके बीचमें उसके रहनेके लिये एक नगर दे दिया जिसका नाम मधुमत्त था। धर्मात्मा दण्डने बहुत वर्षोंतक वहाँका अकण्टक राज्य किया। तदनन्तर एक समय जब चैत्रकी मनोरम छटा चारों ओर छहरा रही थी। राजा दण्ड भार्गव मुनिके रमणीय आश्रमके पास गया तो वहाँ एक परम सुन्दरी कन्याको देखकर वह कामपीड़ित हो गया। पूछनेसे ज्ञात हुआ कि वह भार्गववंशोद्भव श्रीशुक्राचार्यजीकी ज्येष्ठ कन्या 'अरजा' है। उसने कहा कि मेरे पिता आपके गुरु हैं, इस कारण धर्मके नाते मैं आपकी बहिन हूँ। इसलिये आपको मुझसे ऐसी बातें न करनी चाहिये। मेरे पिता बड़े क्रोधी और भयङ्कर हैं, आपको शापसे भस्म कर सकते हैं। अत: आप उनके पास जायँ और धर्मानुकूल बर्तावके द्वारा उनसे मेरे लिये याचना करें। नहीं तो इसके विपरीत आचरण करनेसे आपपर महान् घोर दु:ख पड़ेगा। राजाने उसकी एक न मानी और उसपर बलात्कार किया। यह अत्यन्त कठोरतापूर्ण महाभयानक अपराध करके दण्ड तुरत अपने नगरको चला गया और अरजा दीन-भावसे रोती हुई पिताके पास आयी। श्रीशुक्राचार्यजी स्नान करके आश्रमपर जब आये तब अपनी कन्याकी दयनीय दशा देख उनको बड़ा रोष हुआ। ब्रह्मवादी, तेजस्वी देवर्षि शुक्राचार्यजीने शिष्योंको सुनाते हुए यह शाप दिया—'धर्मके विपरीत आचरण करनेवाले अदूरदर्शी दण्डके ऊपर प्रज्वलित अग्निशिखाके समान भयङ्कर विपत्ति आ रही है, तुम सब लोग देखना। वह खोटी बुद्धिवाला पापी राजा अपने देश, भृत्य, सेना और वाहनसहित नष्ट हो जायगा। उसका राज्य सौ योजन लम्बा-चौड़ा है। उस समूचे राज्यमें इन्द्र धूलकी बड़ी भारी वर्षा करेंगे। उस राज्यमें रहनेवाले स्थावर, जङ्गम जितने भी प्राणी हैं, उन सबोंका उस धूलकी वर्षासे शीघ्र ही नाश हो जायगा। जहाँतक दण्डका राज्य है वहाँतकके उपवनों

और आश्रमोंमें अकस्मात् सात राततक जलती हुई रेतकी वर्षा होती रहेगी।'—'**धक्ष्यते पांसुवर्षेण महता पाकशासनः।**' (वाल्मी० ७। ८१। ८) यह कहकर शिष्योंको आज्ञा दी कि तुम आश्रममें रहनेवाले सब लोगोंको राज्यकी सीमासे बाहर ले जाओ। आज्ञा पाते ही सब आश्रमवासी तुरन्त वहाँसे हट गये। तदनन्तर शुक्राचार्यजी अरजासे बोले कि—यह चार कोसके विस्तारका सुन्दर शोभासम्पन्न सरोवर है। तू सात्त्विक जीवन व्यतीत करती हुई सौ वर्षतक यहीं रह। जो पशु-पक्षी तेरे साथ रहेंगे वे नष्ट न होंगे।—यह कहकर शुक्राचार्यजी दूसरे आश्रमको पधारे। उनके कथनानुसार एक सप्ताहके भीतर दण्डका सारा राज्य जलकर भस्मसात् हो गया। तबसे वह विशाल वन 'दण्डकारण्य' कहलाता है। यह कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें महर्षि अगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कही, जब वे शम्बूकका वध करके विप्र-बालकको जिलाकर उनके आश्रमपर गये थे। (अ० ३९) और, वाल्मीकीय ७ सर्ग ७९-८० और ८१ में भी है। इसके अनुसार चौपाईका भाव यह है कि प्रभुने एक दण्डकवनको, जो सौ योजन लम्बा था और दण्डके एक पापसे अपवित्र और भयावन हो गया था स्वयं जाकर हरा-भरा और पवित्र किया किन्तु श्रीनाममहाराजने तो असंख्यों जनोंके मनोंको, जिनके विस्तारका ठिकाना नहीं और जो असंख्यों जन्मोंके संस्कारवश महाभयावन और अपवित्र हैं, पावन कर दिया। *'पावन'* में *'सुहावन'* से विशेषता है। *'पावन'* कहकर जनाया कि जनके मनके जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित अशुभ संस्कारोंका नाश करके उसको पवित्र कर देता है और दूसरोंको पवित्र करनेकी शक्ति भी दे देता है।

निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥ ८॥

दोहा—सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ॥ २४॥

शब्दार्थ—**निकर**=समूह, दल, झुंड। **दले**=दलित किया, नाश किया। **कलुष**=पाप। **उधारे**=उद्धार वा भवपार किया।=सद्गति दी। **अमित**=असंख्य, अगणित। **निकंदन**=नाश करनेवाला।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने निशाचरोंके समूहको मारा और नाम तो कलिके समस्त पापोंको जड़से उखाड़ डालनेवाला (नाशक) है। ८। श्रीरघुनाथजीने तो शबरी, गृध्रराज (जटायु) ऐसे अच्छे-अच्छे सेवकोंको सद्गति दी; (पर) नामने अनेकों दुष्टोंका उद्धार किया, वेदोंमें उनके गुणोंकी कथा प्रसिद्ध है। २४।

नोट—१ नामका बड़प्पन एकमें *'निकर'* और *'निसिचर'* (पाप करनेवाले। अर्थात् कार्यको), *'दले'*, *'सबरी गीध'* (दो) और वह भी *'सुसेवक'* और दूसरे में *'सकल'* और *'कलि कलुष'* (पापहीको, कारणहीको), *'निकंदन'*, *'अमित'* और *'खल'* शब्दोंको देकर दिखाया गया। अर्थात् निशाचरोंमें कुछ-न-कुछ बच ही रहे और यहाँ *'पाप'* रह ही न गया। *'दले'* शब्द जनाता है कि राक्षसकुलका सर्वविनाश नहीं किया। जो बचे उन्होंने विभीषणको राजा मान लिया। *'निकंदन'* में निःशेषका भाव है। नाम निःशेष कर डालता है फिर कलुषित भावोंके आनेका अवकाश ही नहीं रह जाता। कलिके कलुष अर्थात् राक्षसी भावोंके कारणको। कारण ही न रह गया तो कार्य हो ही कैसे? शबरी और गृध्रराज उत्तम सेवक थे। उनको गति दी तो क्या ? दुष्टोंको सद्गति देना वस्तुतः सद्गति देना है।

नोट—२ *'निसिचर निकर दले रघुनंदन'* इति। (क) दण्डकवनको सुहावन-पावन करने और श्री-शबरी एवं गृध्रराजके प्रसङ्गके बीचमें *'निसिचर……'* कहनेसे यहाँ खर-दूषण-त्रिशिरा और उनकी अजय अमर चौदह हजार निशाचरोंकी सेना अभिप्रेत है। यह युद्ध पञ्चवटीपर हुआ, जहाँ श्रीरामजी दण्डकवनमें रहते थे। खर-दूषण रावणके भाई हैं, जो शूर्पणखाके साथ जनस्थानमें रावणकी ओरसे रहते थे। इनकी कथा अरण्यकाण्डमें आयी है। (ख) *'नाम सकल कलि कलुष निकंदन'* इति। काष्ठजिह्वा स्वामीजी इसका रूपक इस प्रकार लिखते हैं—*'भाई पंचवटी के रन में बड़ो रंग समुझन में। चाह सूपनखा सदा सुहागिनि खेलि रही मन बन में॥ लषनदास ताके धरि काटे नाक कान एक छन में॥'* (भाई०) *'खर है क्रोध,*

लोभ है दूषन, काम बसै त्रिसिरन में। कामैक्रोध लोभ मिलि दरसै तीनों एकै तन में॥' (भाई०) अर्थात् चाह (तृष्णा, शूर्पणखा है, क्रोध खर राक्षस है, लोभ दूषण राक्षस है और काम त्रिशिरा राक्षस है। ये सब इसी शरीरमें देख पड़ते हैं।

श्रीबैजनाथजी—निशाचर-समूहका नाश क्षणभरमें कर डालना 'शौर्य गुण' है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—**'सर्वस्माद्भीतिराहित्यं युद्धोत्साहश्च कीर्तये। शूरैः शौर्यमिदं चोक्तं राज्ञां स्वर्ग्ययशस्करम्।'''''राम वद्ध्यो न शक्यः स्यात् रक्षितुं सुरसत्तमैः। ब्रह्मा रुद्रेन्द्रसंज्ञैश्च त्रैलोक्यप्रभुभिस्त्रिभिः।'** अर्थात् नर, नाग, सुर, असुर आदि तीनों लोकोंके वीर एकत्र होकर युद्धके लिये आवें तो भी किञ्चित् भय न करें, बड़े उत्साहसे युद्ध करें और क्षणभरमें सबका नाश कर दें, यही 'शौर्य' गुण है। जिसको वे मारना चाहें उसे ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि त्रैलोक्यके वीर नहीं बचा सकते। यथा—*'जौं रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥'* (१। २८४), *'सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥'* (२। १८९), *'रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥'* (३। १९), *'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान।'* (३। २०), *'खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥'* (३। २२) खरदूषणादिके प्रसङ्गमें शौर्यगुणके सब अङ्ग स्पष्ट हैं। प्रभुने यह शौर्यगुण एक स्थलमें जो प्रकट किया, वही प्रताप नामके साथ लोकोंमें फैला, जिससे पापरूपी खलोंसे भयातुर हो प्रतापी प्रभुका नाम लोग जपने लगे। जिससे अगणित लोगोंके सब प्रकारके पाप जड़मूलसे नाशको प्राप्त हो गये।

नोट—३*'सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि'* इति। (क) श्रीशबरीजी श्रीमतङ्ग-ऋषिकी शिष्या थीं, उनके प्रेमका क्या कहना ? श्रीरामजी स्वयं उसे दृढ़ भक्तिका प्रमाणपत्र दे रहे हैं, यथा—*'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।'* (३। ३६। ७) गीतावली और भक्तमालमें उनकी प्रेम-कहानी खूब वर्णन की गयी है और उनके बेरोंकी प्रशंसा तो प्रभुने श्रीअवध-मिथिलामें भी की थी, यथा—*'घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥'* (वि० १६४) वाल्मीकिजीने श्रीशबरीजीके लिये 'महात्मा' विशेषण दिया है। अरण्यकाण्डमें इसकी कथा विस्तारसे दी गयी है। (३। ३४—३६) में देखिये। इसीसे इनको *'सुसेवक'* कहा। (ख) *'गीध'* इति। यहाँ प्रसङ्गसे गृध्रराज श्रीजटायु ही अभिप्रेत हैं। ये दशरथजीके सखा थे; ऐसा उन्होंने (वाल्मीकीयमें) श्रीरामजीसे कहा है। इसीसे श्रीरामजी उनको पिता-समान मानते थे। ये ऐसे परहितनिरत थे कि इन्होंने श्रीसीताजीकी रक्षामें अपने प्राण ही दे दिये। अरण्यकाण्डमें दोहा २९ से ३२ तक इनकी कथा है। विशेष विस्तारसे वहाँ लिखा गया है। गीतावलीमें इनकी सुन्दर कथा है और इनकी मनोहर मृत्युकी प्रशंसा गोस्वामीजीने दोहावलीमें दोहा २२२ से २२७ तक छः दोहोंमें की है। पक्षी और आमिषभोगी होते हुए भी इन्होंने सेवासे कैसी सुन्दर गति पायी! इसीसे *'सुसेवक'* कहा। (ग) *'सुगति'*=शुभगति; प्रभुका निजधाम। शबरीकी गति, यथा—*'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।'* (३। ३६) इसीको श्रीरामजीने कहा है कि—*'जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥'* (३। ३६) जटायुजीकी गति, यथा—*'तनु तजि तात जाहु मम धामा।'* (३। ३१), *'गीध देह तजि धरि हरि रूपा''''''अस्तुति करत नयन भरि बारी।'''''' अबिरल भगति माँगि बर गीध गयउ हरिधाम। तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥'* (३। ३२), *'''''गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥'* (३। ३३), *'मुए मुकुत जीवत मुकुत मुकुत मुकुतहूँ बीच। तुलसी सबही तें अधिक गीधराज की मीच॥'* (दोहावली २२५)

नोट—४ *'नाम उधारे अमित खल'* इति। भाव कि सुसेवकको गति दी तो यह कोई विशेष बात नहीं हुई। नामने सत्-असत्की कौन कहे सेवकतककी सीमा नहीं रखी। सेवक न सही तो सज्जन तो हो, पर वह भी नहीं। नामने 'खलों' का उद्धार किया।

नोट—५ *'बेद बिदित गुनगाथ'* इति। गोस्वामीजीने अबतक तो शास्त्र-पुराणकी बात भी नहीं की और इस सम्बन्धमें एकदम 'वेद' को प्रमाण दे दिया। बात यह है कि पुराणादिमें जितने उदाहरण अधम

उद्धारणके हैं उनमें या तो क्रमोद्धार है या पूर्व-जन्म सुन्दर बताया गया है। खलोंके सुधारके सम्बन्धमें अबतक साधनका एक क्रम चला आ रहा था। *'नाम कोटि खलकुमति सुधारी'* से क्रम-साधन चला। कुमति शुद्ध होनेपर यह 'दास' हुआ। *'सहित दोष दुख दास दुरासा।....'* फिर जन हुआ—*'जनमन अमित नाम किय पावन।'* दास (सेवक) नामाभ्यासीके स्थितिमें दो स्तर रहे। दोष, दुख एवं दुराशाका नाश और उसके अनन्तर *'भवभयभंजन।'* इसके पश्चात् वह *'जन'* हुआ। नामके अभ्यासमें अनुराग हो गया। यहाँ भी दो स्तर हुए मनकी पावनता और कलि-कलुषका नाश। इस प्रकार यह क्रम पूर्ण हुआ।

अब गोस्वामीजी कह रहे हैं कि नामके लिये आवश्यक नहीं कि वह उपर्युक्त क्रमसे *'खल'* को *'कुमतिसुधार'* करता हुआ ही पूर्णता प्रदान करे। इसमें तो श्रुति प्रमाण है कि नामने दुष्टों—खलोंका उद्धार किया है, जो पूर्वजन्ममें भी दुष्ट थे और उद्धारके समय भी दुष्ट थे। साधु बनाकर नहीं उद्धार किया। किन्तु दुष्ट रहते ही उद्धार किया। इस सम्बन्धमें श्रुति है—'**यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं ब्रवीत् तेन सह संवदेत् तेन सह संवसेत् तेन सह सम्भुञ्जीयात्।**' (अथर्ववेद) जो चाण्डाल भी 'राम' यह नाम ले उसके साथ बोले, रहे, भोजन करे। '**राम**' कहते ही वह पंक्तिपावन हो जाता है। यहाँ श्रुतिके प्रमाणकी आवश्यकता थी, क्योंकि शास्त्रोंमें सदाचार, साधनादिका जो महत्त्व है, उससे यह नाम-माहात्म्य असङ्गत-सा लग सकता है। ऐसी दशामें इसे सत्य सिद्ध करनेके लिये एकमात्र श्रुतिप्रमाणकी ही आवश्यकता थी। (श्रीचक्रजी)

नोट—६ श्रीशबरीजी और श्रीगृध्रराजको गति देकर श्रीरामजीने अपना 'अनुकम्पा गुण' प्रकट किया। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'**रक्षिताश्रितभक्तानामनुरागसुखेच्छया। भूयोऽभीष्टप्रदानाय यश्चताननुधावति॥ अनुकम्पा गुणो ह्येषा प्रपन्नप्रियगोचरः॥**' अर्थात् जो पूर्वसे रक्षित-आश्रित अनुरागी भक्त हैं, उनके सुखके लिये भगवान् उनके पीछे धावते हैं, यह 'अनुकम्पा' गुण है, जिसका भक्त अनुभव करते हैं। प्रभुने इन दोनों प्रेमी भक्तोंकी सब अभिलाषा पूर्ण की। शबरीजीको माता-समान और जटायुजीको पितासे भी अधिक माना। दोनोंको दर्शन देकर मुनिदुर्लभ गति दी। यह '**अनुकम्पा गुण**' जो प्रभुने यहाँ प्रकट किया वही नामद्वारा लोकोंमें विस्तृत हुआ और असंख्यों खलोंको वही सद्गति नामद्वारा प्राप्त हुई। (श्रीबैजनाथजी)

द्विवेदीजी—'जहाँ रामकी गति ही नहीं उस कलिकालमें भी नाम ही अपना प्रताप दिखा रहा है। सुसेवकको गति दी, अर्थात् परीक्षा करके देख लिया कि मेरे सच्चे सेवक हैं, तब गति दी।

नोट—७ कवि लोगोंकी रीति है कि जिसको बड़ा बनाना चाहते हैं उसके लिये बड़े-बड़े विशेषण लिखते हैं और जिसको छोटा बनाना चाहते हैं उसके लिये छोटे-छोटे विशेषण देते हैं। इसीलिये ग्रन्थकारने 'राम' के विशेषणमें *'एक'* का और *'नाम'* के विशेषणमें *'कोटि'*,*'अमित'* इत्यादिका प्रयोग किया है।'

टिप्पणी—१ इस दोहेका जोड़ ऊपर *'नाम कोटि खल कुमति सुधारी'* से मिलाया है। नामने खलोंकी बुद्धि सुधारी। जब बुद्धि सुधरती है तभी उद्धार होता है, सो यहाँ उनका उद्धार कहा। श्रीरामचरित्रका जो क्रम है वैसा ही श्रीनामचरित्रका है—

श्रीराम-चरित्र	श्रीनाम-चरित्र
१-श्रीकौसल्याजीसे श्रीरामचन्द्रजीकी आविर्भावना।	भक्तकी जिह्वासे नामका आविर्भाव।
२-श्रीरामचन्द्रजीने ताड़का-सुबाहु आदिका वध किया इत्यादि।	नाम दोष-दुःख-सहित दुराशाका नाश करके तब भवका नाश करते हैं। दुराशाके रहते भवका नाश नहीं होता। इत्यादि।

नोट—८ यहाँ श्रीशबरीजीको प्रथम कहा और श्रीजटायुजीको पीछे, यद्यपि लीलाक्रममें पहले जटायुजीको गति दी गयी तब श्रीशबरीजीको। इसका एक कारण तो पूर्व लिखा ही जा चुका। पंजाबीजी और पं० रामकुमारजीका मत है कि यह व्यतिक्रम छन्दहेतु किया गया। '**पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्।**' अर्थ करते समय आगे-पीछे ठीक करके अर्थ करना चाहिये। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि श्रीरामजी

शबरीजीमें माता-भाव और जटायुजीमें पिता-भाव मानते थे। यथा—*'खग सबरी पितु मातु ज्यों माने कपि को किए मीत।'* (विनय० १९१) माताका गौरव पितासे अधिक है, यह पूर्व १८ (१०) में भी दिखाया गया है। अतः शबरीको प्रथम कहा।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ॥ १॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरिद बिराजे॥ २॥

शब्दार्थ—**नेवाजे** (फारसी शब्द है)=कृपा की। **बिरिद**=बाना, पदवी, यश। **बिराजे**=विराजमान हैं, प्रसिद्ध हैं, चमचमा रहे हैं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी दोनोंको शरणमें रखा (यह) सब कोई (सभी) जानते हैं॥ १॥ पर राम-नामने अनेक गरीबोंपर कृपा की, (यह नामका) श्रेष्ठ यश लोक और वेद दोनोंमें विशेषरूपसे सुशोभित हो रहा है॥ २॥

नोट—१ यहाँ नामकी विशेषता एकमें *'सुकंठ बिभीषन'*, *'दोऊ'*, *'जान सब कोऊ'* और दूसरेमें *'गरीब'*, *'अनेक'*, *'लोक बेद०'* शब्दोंको देकर दिखायी है। *'जान सब कोऊ'* में व्यङ्ग यह है कि अपने स्वार्थके निमित्त उनको शरण दिया। एकने वानरी सेनासे और दूसरेने रावणका भेद देकर सहायता की, यह सब जानते हैं पर गज, अजामिल, गणिका, ध्रुव, प्रह्लाद आदिका उद्धार नामहीसे हुआ कि जो उसका कुछ भी बदला नहीं दे सकते थे। सुग्रीव, विभीषण दोनों राजा (बड़े आदमी) हैं, अतएव उन्हें सभी पूछना चाहेंगे और यहाँ *'गरीब'* जिनको और कोई न पूछे वे तारे गये।

नोट—२ *'बर बिरिद बिराजे'* इति। अर्थात् वेदोंने नामकी महिमा इन्हींके कारण गायी है। वेद कहते हैं कि नाम गरीबनिवाज़ हैं और लोकमें प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि नामजापक सुखी हैं। *'बर'* कहकर जनाया कि महिमा श्रेष्ठ है। (पं० रामकुमारजी)

श्रीबैजनाथजी—(क) सुग्रीव और विभीषण दोनों अपने-अपने भाइयोंसे अपमानित होनेसे दीन होकर शरणमें आये थे, यथा—*'हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी। ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ भुआला॥ इहाँ सापबस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥'* (४। ६), *'बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥ सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ॥'* (४। १२) श्रीहनुमान्‌जीने 'श्रीरामजीसे सुग्रीवको दीन जानकर शरणमें लेनेको कहा है, यथा—*'नाथ सैल पर कपिपति रहई।'*...... *दीन जानि तेहि अभय करीजे।'* (४। ४) विभीषण भी दीन थे, यथा—*'दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा।'* (५। ४५) *'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥'* (५। ४४), *'रावनक्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड॥'* (५। ४९), *'रघुबंस बिभूषन दूषनहा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा॥'* (६। ११०) (ख) ऐसे दीन सुग्रीव और विभीषणजीको राजा बनाया, नित्य पार्षद बना लिया और प्रातःस्मरणीय कर दिया। यह 'करुणा' गुण है, यथा भगवद्गुणदर्पणे—'**आश्रितार्त्यग्निनाहेम्नो रक्षितुर्हृदयेद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्द्रवत्॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम्। इति या दुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणे त्वरा॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीतिवारकः॥**' अर्थात् जैसे अग्निसे सोना गलता है वैसे ही आश्रितोंके दुःखसे रक्षक भगवान् द्रवित होते हैं। अत्यन्त मृदुचित्त होनेसे नेत्रोंसे भक्तोंका दुःख देख अश्रुपात होने लगता है; और आश्रितके दुःख निवारणार्थ क्या करूँ और कब कर डालूँ—इस विचारसे दुःखित आश्रितोंके रक्षणकी जो त्वरा है तथा परदुःखके चिन्तनसे विह्वल हो जाना यह सब भगवान्‌का 'कारुण्य गुण' है जो भक्तोंके भयको निवारण करता है।

नोट—३ श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी दोनों अत्यन्त दीन (आर्त) थे। सुग्रीवने अपना दुःख स्वयं श्रीरामजीसे कहा ही है और विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है, यथा—*'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥ तात कबहुँ मोहिं जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥'* (५। ७) फिर रावणने

उन्हें लात मारकर निकाल दिया, जिस अपमानसे उनको बड़ी ग्लानि हुई; जिससे वे शरणमें आये—*'तुलसी हुमुकि हिय हन्यो लात, भले तात चल्यो सुरतरु ताकि तजि घोर घामै।' 'गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति……', 'जात गलानिन्ह गर्‌यो' 'कृपासिंधु सनमानि जानि जन दीन लियो अपनाइ कै।'* (गीतावली ५। २५—२८) सुग्रीवका दुःख सुनकर प्रभुको इतना दुःख हुआ कि तुरंत बालिवधकी प्रतिज्ञा कर दी, यथा—*'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वौ भुजा बिसाला॥ सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान।'* (४। ६) विभीषणको तुरन्त तिलक करके उसकी ग्लानि दूर की।

'गरीब' का अर्थ—'सुग्रीव-विभीषणके प्रसङ्गसे दीन, आर्त, दुःखसे व्याकुल, जिसका कोई रक्षक नहीं' है। प्रभुका 'करुणा' गुण नामद्वारा अनन्त हुआ, उसने अनेकों ऐसे दीन आर्त्तजनोंका दुःख नाश-कर उनको सुखी किया।

नोट—४ सुग्रीव और विभीषण दोनों सर्वथा अनुपयोगी शरणागत न थे। फिर विभीषणजीने तो शरण आनेसे पूर्व ही हनुमान्‌जीको पता बताकर उनकी सहायता की थी और रावणकी सभामें भी *'नीति बिरोध न मारिय दूता'* कहकर उनकी रक्षा की थी। अतएव इनको शरणमें लेना औदार्यका आदर्श नहीं कहा जा सकता। नामने गरीबोंका उद्धार किया। गरीब अर्थात् सम्पत्ति, बुद्धि, वर्ण, तप, जप, धर्म, प्रेम या साधन, इस प्रकारका कोई धन जिनके पास न था; जो किसी उपयोगमें नहीं आ सकते थे। *'लोक बेद बर बिरिद बिराजे'* का भाव कि यह बात प्रख्यात एवं निर्विवाद है, अतः इसके लिये उदाहरणकी आवश्यकता नहीं।

यहाँ नामका व्यापक महत्त्व प्रतिपादित किया गया। पूर्व जो कह आये कि नामने अमित खलोंका उद्धार किया उसीको स्पष्ट करते हैं कि उनके उद्धारमें केवल एक बात है। जहाँ दैन्यका अनुभव हुआ, हृदयमेंसे जहाँ अपना गर्व गया, बस एक बार नाम लेते ही कल्याण हो जाता है। जबतक शरीर, बुद्धि, धन, उच्च वर्ण, तप, त्याग, धर्माचरण, यज्ञ, ज्ञान प्रभृति साधनोंका भरोसा है, बस तभीतक मायाका आवरण भी है। जो अपनेको सम्पूर्ण असहाय दीन समझकर नाम लेता है, नाम उसका उद्धार कर देता है। फिर वहाँ खल या सत्पुरुषका भेद नहीं रह जाता है। (श्रीचक्रजी)

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥ ३॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**कटकु**=सेना। **बटोरा**=इकट्ठा किया। **श्रमु**=परिश्रम। **माहीं**=में।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने (तो) रीछ और बन्दरोंकी सेना इकट्ठी की, पुल (बाँधने) के लिये कुछ थोड़ा परिश्रम नहीं उठाया, अर्थात् बहुत परिश्रम करना पड़ा॥ ३॥ (पर) नाम लेते ही भवसागर सूख ही जाते हैं। सज्जनो! मनमें सोच-विचार लीजिये (कि कौन बड़ा है)॥ ४॥

नोट—१ यहाँ नाममें यह विशेषता दिखायी कि वहाँ तो 'भालु कपिकी सेना' और 'स्वयं श्रीरामचन्द्रजी' और यहाँ केवल 'नाम', वहाँ 'बटोरनेमें समय और परिश्रम' यहाँ नाम 'लेते ही'; वहाँ 'पृथ्वीके एक लघु प्रदेशपर रहनेवाला समुद्र' यहाँ 'भवसिंधु' जो सृष्टिमात्रभरमें है, वहाँ पुल बाँधनेके लिये परिश्रम, उपवास इत्यादि और फिर भी समुद्र ज्यों-का-त्यों बना ही रहा क्योंकि वह सेतु पीछे टूट भी गया और यहाँ भवसिन्धु सूख ही गये—स्मरणमात्रसे; वहाँ एक समुद्र यहाँ सब। वहाँ प्रयास, यहाँ सेतु बनानेका प्रयास नहीं।

नोट—२ *'बटोरा'* शब्द यहाँ कैसा उत्तम पड़ा है! इधर-उधर बिथरी फैली, बिखरी हुई वस्तुओंको समेटकर एकत्र करनेको 'बटोरना' कहते हैं और यहाँ कपि-दल चारों दिशाओंमें जहाँ-जहाँ था, वहाँ-वहाँसे दूतोंद्वारा एकत्र किया गया था। बटोरनेमें समय लगता है, वैसे ही कपि-दलके इकट्ठा करनेमें भी समय लगा।

नोट—३ *'श्रम कीन्ह न थोरा'*; यथा—*'बिनय न मानत जलधि जड़ गये तीनि दिन बीति।'* (५। ५७) श्रीरामचन्द्रजीको सिन्धुतटपर *'माँगत पंथ'* में तीन उपवास हुए यह बात कवित्तरामायणमें स्पष्ट कही गयी है, यथा—*'तीसरे उपास बनबास सिंधु-पास सो समाज महाराजजूको एक दिन दान भो।'* (सु० ३२) कपि-भालु-दलका परिश्रम तो सब जानते ही हैं कि हिमालयतकसे पर्वतोंको ला-लाकर समुद्रमें पुल बाँधा। इतनेपर भी वह सेतु सेना पार उतारनेके लिये अपर्याप्त हो गया, कितने ही जलचरोंपर चढ़-चढ़कर गये, इत्यादि।

टिप्पणी—१ (क) भवसिन्धुका कारण 'शुभाशुभ कर्म' है। सो रकारके उच्चारणसे कर्म भस्म हो जाते हैं। पुनः, भवसिन्धुका कारण 'अविद्या' है। यह अविद्या अकारके उच्चारणसे नाश होती है। पुनः भवसिन्धु तापसे भरा है, वह ताप मकारसे नाश हो जाता है। १९ (१) *'हेतु कृसानु भानु हिमकर को'* में देखिये। (ख) *'सुखाहीं'* का भाव यह कि फिर भवसिन्धु नहीं होता। *'सुखाहीं'* बहुवचन क्रिया देकर सूचित किया कि जैसे इस जगत्‌में मुख्य समुद्र सात हैं वैसे ही भवसिन्धु भी सात हैं। बहुवचन देकर जनाया कि वे सब सूख जाते हैं। परमेश्वरके मिलनेमें सात विक्षेप वा आवरण हैं, वे ही सात समुद्र हैं। वे सात समुद्र ये हैं—'मानसिक, कायिक और वाचिक कर्म, अविद्या, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप।'

नोट—४ (क) पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अविद्यात्मक कर्मका परिणाम देह है, उसे ही सागर भी कहा है, यथा—*'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं।'* (वि० ५८) यह देह सप्त धातुओंसे निर्मित है, यथा—*'सातैं सप्त धातुनिर्मित तनु करिय बिचार।'* (वि० २०३), **'जायमानो ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।'** (भा० ३। ३१) [भा० ३। ३१। ११ में यह श्लोक है। परन्तु पाठ **'नाथमान ऋषिर्भीतः'** है। अर्थ यह है—'उस समय सात धातुओंसे युक्त शरीरमें अभिमान करनेवाला वह जीव अति भयभीत होकर याचना करता हुआ' (गीताप्रेस-संस्करण)] इस प्रकार भी सप्तसागर आ जाते हैं। देहाभिमानको सोखना भवसिन्धुका सोखना है।

(ख) सातकी संख्या इस प्रकार भी पूरी कर सकते हैं—पञ्चकोश (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय), अहङ्कार और अविद्या। पुनः, यदि हम समुद्र चार मानें, क्योंकि ये हमारे दृष्टिगोचर होते हैं और कालिदासजीने चार समुद्र मानकर ही रघुवंशमें लिखा है—**'पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्॥'** (२। ३) तो भी बहुवचन ही रहता है और उस समय स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चारों शरीर ही चार भवसमुद्र हैं। नामके जपसे पञ्चकोशादि एवं स्थूल-सूक्ष्मादि शरीररूपी भवसिन्धुओंका सूखना यह है कि ये पुनर्जन्मादिके कारण नहीं रह जाते, केवल प्रारब्धक्षयतक आपाततः (ऊपर-ऊपर, देखनेमात्रके) लोक-व्यवहारोपयोगी भर्जित बीजवत् बने रहते हैं। अथवा सात या चारकी संख्या न लेकर भी बहुवचनकी सार्थकता इस प्रकार दिखायी जा सकती है कि *'भव'* का अर्थ 'जन्म-मरण' होना है और जीवके न जाने कितने सञ्चित कर्म हैं जिनको भोगनेके लिये न जाने कितने जन्म लेना पड़े। प्रत्येक बारका जन्म-मरण एक समुद्र है। अतः बहुवचन *'सुखाहीं'* दिया। (ग) सू० मिश्र लिखते हैं कि *'सुखाहीं'* से जनाया कि भवसागरका एकदम अभाव नहीं हो जाता, किन्तु उसका नामभर रह जाता है, उसका गुण कुछ नहीं रहता।

बैजनाथजी—*'राम भालु कपि……'* इसमें प्रभुका 'चातुर्यगुण' प्रकट हुआ कि सबकी बोली (भाषा) और सर्वकला विद्यामें प्रवीण हैं तभी तो देश-देशके रीछ-वानरोंकी भाषा समझते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं और अगाध समुद्रमें जलके ऊपर चार सौ कोसतक पत्थरोंको तैराकर पुल बाँध दिया। ऐसा दुष्कर दुःसाध्य कार्य केवल अपनी बुद्धिसे किया—यही चातुर्यगुण है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—**'केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थविद्……। दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्य्यं चतुरा विदुः॥ साधकाश्चापि सिद्धानां चतुराणां च राघवः। कीशानां भाषया रामः कीशेषु व्यपदेशिकः॥ ऋक्षराक्षसपक्षीषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः॥'** यही गुण नामद्वारा

अनन्तरूप हो लोकोंमें प्रसिद्ध हुआ, ऐसे दु:साध्य कार्य सुन भवसिन्धुसे भयभीत पामर प्राणियोंको शरणमें आनेका उत्साह हुआ और वे नाम जपकर पार हो गये।

नोट—५ *'करहु बिचार सुजन मन माहीं।'* इति। (क) भाव यह कि हम बढ़ाकर नहीं कह रहे हैं, आप स्वयं सुजान हैं, अत: आप बिना परिश्रम विचारकर स्वयं देख लीजिये कि नाम बड़ा है कि नहीं। (ख) पूर्व जो कहा है कि—*'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू।'* उसीको यहाँ पुन: कहते हैं कि सज्जनो! मनमें विचार करो। अर्थात् इस प्रसङ्गमें जो विदग्ध शब्दोंमें वचन-चातुरी है उसे शब्दार्थ ही समझकर बोध न कर लो किन्तु इसके भीतर जो गुण-वर्णन है उसका कारण मनसे विचारो। तात्पर्य यह कि जो गुण रूपसे एक बार प्रकट हुआ वही नामद्वारा अनन्त हो गया, उनका स्मरणमात्र करनेसे अनेकोंका भला हो रहा है। जैसे किसी पण्डितने अपने तन्त्र-मन्त्र-विद्याद्वारा किसी चोरका नाम प्रसिद्ध कर उसे पकड़ा दिया तो पण्डितका नाम लोकमें प्रसिद्ध हो फैल गया। जहाँ चोरी हुई और उस पण्डितका नाम लोगोंने लिया तहाँ ही चोर डरकर वस्तु डाल देता है। रूपके ही गुणका प्रभाव नाममें है। (बैजनाथजी)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—*'करहु बिचार सुजन।'* यहाँ सज्जनोंको विचार करनेको कहा जा रहा है। जो सज्जन नहीं हैं उनके हृदयमें तो भगवल्लीलारहस्य विचार करनेपर भी नहीं आ सकता, किन्तु सज्जन विचार करें तो जान सकते हैं। भाव यह है कि आप सज्जन हैं, परमार्थमें आपकी रुचि है, अत: आपको विचार करके यह देख लेना चाहिये कि नामके समान महामहिम और कोई साधन नहीं है। अत: खलोंकी रुचि तो नाममें भले ही न हो पर आपकी रुचि तो नाममें होनी ही चाहिये। सज्जनोंको तो एकमात्र नामका ही आश्रय लेना चाहिये।

राम सकुल* रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥ ५॥
राजा राम अवध रजधानी। गावत† गुन सुर मुनि बर बानी॥ ६॥
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥ ७॥
फिरत सनेह मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥ ८॥

शब्दार्थ—**सकुल**=कुल वा परिवारसहित। **रन**=लड़ाई। **पुर**=नगर। **पगु** (पग)=पैर। **धारा**=धरा। **पगु-धारा**=प्रवेश किया, गये, पधारे।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने रावणको परिवारसहित रणमें मारा। (तब) श्रीसीताजीसहित अपने नगरमें प्रवेश किया। ५। श्रीराम राजा हुए, अवध उनकी राजधानी हुई। देवता और मुनिश्रेष्ठ श्रेष्ठ वाणीसे उनके गुण गाते हैं। ६। पर, सेवक नामका प्रेमसे स्मरणमात्र करते हुए बिना परिश्रम बड़े भारी बलवान् मोहदलको जीतकर प्रेममें मग्न स्वच्छन्द अपने सुखसे विचरते हैं। नामके प्रसाद (कृपा) से उनको स्वप्नमें भी शोच नहीं होता। ७-८।

नोट—१ इन चौपाइयोंका स्पष्ट भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजीको अपनी सेनासहित श्रीसीताजीके लिये रावणसे संग्राम करना पड़ा। रावणको जीतनेमें उनको बड़ा परिश्रम पड़ा, तब कहीं वे श्रीसीतासहित अपने पुर गये और राज्यलक्ष्मीसे सुसम्पन्न हुए। इतने प्रकाण्ड प्रयासके बाद वे सुखी हुए और उनके सेवकने महामहिमामय राम-नामका सप्रेम स्मरण करके बिना परिश्रम ही मोहरूपी रावणको दलसहित जीत लिया और स्वतन्त्र (विमुक्त) स्वराट् होकर स्वानन्दरूपी पुरको प्राप्त हुआ। *'सनेह मगन'* अर्थात् नामके स्नेहमें मग्न। '**सुख अपनें**'=निजानन्द। *'मोह दल'* को जीतनेसे निजानन्दकी प्राप्ति हुई, अर्थात् जीव सम्राट् हुआ।

---

* सकल कुल—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सकुल रन—१६६१, १७०४, को० रा०।

† गावत सुर मुनिवर बर—छ०, भा० दा०। गावत गुन सुर मुनि बर—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२।

नोट—२ (क) नामकी विशेषता दिखानेके लिये *'रावन'* के साथ कोई विशेषण न दिया और *'मोहदल'* के साथ *'प्रबल'* विशेषण रखा। ऐसा करके यह भी जनाया कि रावणसे मोहदल अधिक बलवान् है। रावण तो बहुतोंसे हार चुका था, यथा—*'बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला॥'* इत्यादि (लं० २४) और स्वयं मोहके वश था। (ख) यहाँ मोह रावण है और मोहकी सेना—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।'* (३। ४३) रावणका सारा परिवार मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि हैं। यथा—*'देव मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम बिश्रामहारी। लोभ अतिकाय मतसर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ठ बिबुधांतकारी॥ देव द्वेष दुर्मुख दंभ खर अकंपन कपट दर्प मनुजाद मद सूलपानी। अमित बल परम दुर्जय निसाचर चमू सहित षडवर्ग गो जातुधानी॥'* (४-५। विनय ५८) (ग) वह रावण मोहरूपी रावणसे कम बली था। वह अपनेको, अपनी सेनाको और लङ्काराज्यको बचानेके लिये गढ़से बाहर निकल-निकलकर स्वयं लड़ता था, पर मोहरावण तो अपने दलसमेत निरन्तर जीवके हृदयरूपी लङ्कामें निर्भय निवास करता है, वह भी, नामके सप्रेम स्मरण करनेसे सामने आनेकी ताब नहीं लाता, लड़ना तो कोसों दूर रहा। वह तो नामके स्मरणमात्रसे हृदयरूपी लङ्काको छोड़कर भाग ही जाता है।

टिप्पणी—१ (क) *'गावत गुन सुर मुनि'* इति। भाव यह कि जब सङ्कट सहकर साधुओंको सुखी किया तब सुरमुनिने सुन्दर वाणीसे यश गाया। यहाँ सुरमुनिहीको कहा, क्योंकि सुर रावणके बन्दीखानेसे छूटे और मुनियोंका भय मिटा। सुरमुनिके यशगानका लक्ष्य उत्तरकाण्डमें है, यथा—*'रिपु रन जीति सुजसु सुर गावत। सीता अनुज सहित प्रभु आवत॥'* (७। २) (ख) *'बर बानी'* का भाव कि सुर और मुनि असत्य नहीं बोलते, इसीसे उनकी वाणी श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह कि जैसा चरित्र हुआ है, यथार्थ वैसा ही गुण गाते हैं। अथवा श्रीरामचन्द्रजीके गुण श्रेष्ठ हैं, सुरमुनि इन गुणोंको गाते हैं इसीसे उनकी वाणीको श्रेष्ठ कहा। (ग)[इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि जबतक रावण जीवित रहा, तबतक श्रीरामजीके गुणोंको सुरमुनि नहीं गाने पाये, उसके मरनेके पीछे इनकी प्रतिष्ठा हुई। (मिश्रजी) जिस समय रणमें श्रीरामजीका दल विचलित होता था तथा नागपाश और शक्ति लगने इत्यादि अवसरोंपर सुरमुनि हाहाकार मचाते थे। वे न समझते थे कि यह नरनाट्य है। इसीसे जब प्रभु जीते तब परत्व जानकर उनके परत्वका गान करनेवाले हुए। (मा० त० वि०) *'बरबानी'* स्वयं वेद है। इन्होंने भी रूप धारणकर परत्व वर्णन किया ही है। (मा० त० वि०)]

बैजनाथजी—(क) *'राम सकुल⋯धारा।'* के अन्तर्गत बहुत-से गुण हैं। वरके प्रतापसे त्रैलोक्यविजयी तो रावण स्वयं था—और उसके परिवारमें कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि भी वर पाये हुए अजित महाबली थे—इससे इनसे युद्ध करनेमें स्थिरता, धैर्य, शौर्य, वीर्य (वीरता),तेज और बल आदि गुण प्रकट हुए और बाहुबलके कारण यश हुआ। दूसरे, लोकपालोंको निर्भय किया, पृथ्वीका भार उतारा और सन्तों-मुनियोंको अभय किया। यह कृपा, दया गुण है। तीसरे, विभीषणको अचल किया—इसमें अनुकम्पा उदारता गुण है। चौथे, श्रीजानकीजीसहित श्रीअवधमें आना और विभवसहित राज्यसिंहासनासीन होना—यह भाग्यशालीनता गुण है। ये गुण नामद्वारा अनन्त हो लोकमें प्रसिद्ध हुए। (ख) *'राजा राम⋯'* इति। इसमें पूर्व जितने गुण सूक्ष्मरीतिसे कहे गये वे सब तो हैं ही और उनके अन्तर्गत सौन्दर्य, लावण्य आदि अनेक और भी गुण हैं जिनका बोध केवल नामसे ही नहीं होता। रूप और चरितके ध्यानकी भी आवश्यकता होती है।

नोट—३ *'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती'* इति। श्रीरामजीके सम्बन्धमें रावणादिका मारना कहा, मारना तमोगुणी क्रिया है। और यहाँ *'सुमिरत'* पद दिया जो सात्त्विक क्रिया है। पुनः *'सप्रीती'* पद देकर सूचित किया कि मोहदलके मारनेमें क्रोध नहीं करना पड़ता और रावण तथा उसके कुलके वधमें रोष करना पड़ा है, यथा—*'हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा॥ सर निवारि रिपु के सिर काटे॥'* (६। ९२), *'राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा॥ भए*

क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे। कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥' (६। ९०), *'भयउ रोषु रन रावनु मारा।'* (१। ४६) (भरद्वाजवाक्य), *'तब प्रभु कोपि तीब्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा॥'* (६। ७०) (कुम्भकर्णवध-प्रसङ्ग), *'निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अवसहि बस करी।'* (३। १६)

श्रीबैजनाथजीका मत है कि—(क) यहाँ '**सेवक**=सेवा (अर्थात् षोडशोपचार पूजा श्रीशालग्रामजी वा श्रीस्वरूप वा चित्रादिमें, अथवा मानसी परिचर्या) करनेवाले। सप्रीति प्रेमपूर्वक, अर्थात् इन्द्रियोंके विषय मनमें मिल जायँ, मन-चित्त-अहङ्कारकी वासना बुद्धिमें लीन हो जाय और बुद्धि शुद्ध अनुकूल होकर प्रभुके गुणोंका स्मरण करती हुई लाखों प्रकारकी अभिलाषाएँ करती रहे। यथा भगवद्गुणदर्पणे— '**अत्यन्तभोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। अपरिपूर्णरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा॥**' प्रीतिके आठ अङ्ग ये हैं—प्रणय (मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे हो), आसक्ति, लगन, लाग, अनुराग (चित्त प्रेमरङ्गमें सदा रँगा रहे), प्रेम (रोमाञ्च, गद्गद कण्ठ आदि चिह्नोंसे सदा शरीर पूर्ण रहे), नेह (मिलनि, बोलनि, हँसनिमें प्रसन्नता) और प्रीति (शोभासहित व्यवहार)। भाव यह कि ऐसे जो सेवक हैं वे प्रेममें भरे हुए प्रभुके स्थिरता, शौर्य, वीर्य आदि उपर्युक्त गुणोंको स्मरण करते हुए, नाम जपते हुए प्रबल मोहदलको अनायास जीत लेते हैं। (ख) *'प्रबल'* कहनेका भाव यह है कि विवेकादिके मानके ये नहीं हैं, इनके सामने विवेकादि भाग जाते हैं, यथा—*'भागेउ बिबेक सहाय सहित······।'* (१। ८४), *''मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ।'* (३। ३८)

नोट—४ *'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।—'* यह उपसंहार है। *'नामु सप्रेम जपत अनयासा।'* (२४। २) इसका उपक्रम है। *'फिरत सनेह मगन सुख अपने—'* उपसंहार है और *'भगत होहिं मुद मंगल बासा।'* (२४। २) उपक्रम है। सगुण राम और श्रीरामनामकी तुलनाके इस अन्तिम प्रसङ्गमें नाम-साधनके उच्च एवं आदर्श स्वरूपका वर्णन करके उसका परम फल दिखलाते हैं। जिस उच्च साधन (*नाम सप्रेम—मंगल बासा*) से यह प्रसङ्ग प्रारम्भ हुआ था, उसी स्थितिमें उसका पर्यवसान भी किया गया। वहाँ *'सप्रेम'* और *'भगत'* यहाँ *'सप्रीती'* और *'सेवक'*, वहाँ *'मुद मंगल बासा'* और यहाँ *'फिरत सनेह मगन सुख अपने।'* पर्यवसानके समय यह स्पष्ट कर दिया गया कि *'सप्रेम जप'* करनेवालेका मोह एवं समस्त मोह-परिवार नष्ट होता है और वह 'अपने सुख' आत्मानन्दमें मग्न होकर विचरण करता है। उसका मुद मङ्गल बाह्य उपकरण या निमित्तकी अपेक्षा नहीं करता (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

नोट—५ *'फिरत सनेह मगन सुख अपने'* इति। (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि—स्मरण करते-करते नामके प्रतापसे प्रभुके चरणकमलोंमें प्रीति हुई, जिससे मन 'स्नेह' रंगमें रँग गया, लोक-वासना छूट गयी, मन शुद्ध होकर श्रीरामस्नेहसे अपने सुखमें मग्न हो गया अर्थात् स्वतन्त्र हो गया; इसीसे निर्भय विचरते हैं। (ख) श्रीरामजीके सेवक वानर, रीछ, राक्षस विभीषणादि ब्रह्मानन्दमें मग्न हो गये थे, प्रभु-पदमें प्रीति ऐसी थी कि उनको छः मास बीतते जान ही न पड़ा। यथा—*'नित नइ प्रीति रामपदपंकज।—ब्रह्मानंद मगन कपि सब कें प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥'* (७। १५), *'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।'*—यह जो श्रीरामरूपमें गुण दिखाया वही गुण नाममें अनन्त सेवकोंद्वारा दिखाते हैं।

नोट—६ *'नाम प्रताप सोच नहिं सपने'* इति। (क) *'नाम प्रताप'* का भाव कि रीछ, वानर आदि रूपके प्रतापसे निर्भय थे। यथा—*'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥'* (७। १६), *'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहिं डरपहु जनि काहू॥'* (६। ११७) और नामके प्रतापसे सभी नाम-जापक सेवक निजानन्दमें मग्न निर्भय रहते हैं। (ख) रूपके सेवकोंको शत्रु आदिका शोच, घरबार आदिका शोच, अपने शरीर आदिका शोच प्रभुके बलपर नहीं था और नाम-जापक सेवकको कामादि शत्रुओंका, घरबार आदिके पालनका एवं अपनी देहादिका शोच नामके प्रतापसे नहीं रहता। (ग) *'सोच नहिं सपने'* में ध्वनि यह है कि रामचन्द्रजीको राज्य मिलनेपर भी लवणासुरके

मारनेकी, श्रीसीताजीके प्रति पुरवासियोंके सन्देह इत्यादिकी चिन्ताएँ बनी ही रह गयीं पर जापक-जनको स्वप्नमें भी चिन्ता नहीं रहती, जाग्रतिकी कौन कहे? यथा—'*तुलसी गरीब की गई-बहोर रामनाम, जाहि जपि जीह रामहू को बैठो धूति हों। प्रीति राम नाम सों प्रतीति रामनाम की, प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूति हों॥*' (क० उ० ६९) सप्रेम नाम-जप करनेवालेको आत्मसाम्राज्य प्राप्त हो जानेपर राज्यरक्षणादिका कोई दायित्व उसपर नहीं रह जाता।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—मानसका पूरा प्रसंग आत्मबलका आध्यात्मिक अर्थ भी रखता है। उस अर्थकी ओर भी यहाँ सङ्केत है। '*अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुरी अयोध्या।*' आठ चक्रों और नव द्वारोंकी अयोध्या नगरी-सी मानवदेह ही है। मोह रावण है और उसका प्रबल दल कामादि हैं। मोहदलको जीतकर रावणवधके पश्चात् आत्मसुख-अयोध्याके सिंहासनपर शान्तिके साथ प्रतिष्ठा होती है।

दो०—ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥ २५॥

शब्दार्थ—**बरदायक**=वरदान देनेवाले=**बरदानि**। *जिय*=हृदयमें=प्राण, आत्मा, सार। **सत**=सौ।

अर्थ—ब्रह्म (निर्गुण-अव्यक्त) और राम (सगुण-व्यक्त) से (राम) नाम बड़ा है, बड़े-बड़े वर देनेवालोंको भी वरका देनेवाला है। श्रीमहादेवजीने मनमें (ऐसा) जानकर (अथवा इसको सबका प्राण जानकर) 'शतकोटिरामचरित'मेंसे चुनकर ले लिया॥ २५॥

नोट—१ 'रामसे नाम क्यों बड़ा है', यह बात दृष्टान्त देकर दोहा २३ '*कहउँ नाम बड़ राम तें निज बिचार अनुसार*' से लेकर यहाँतक बतायी और निर्गुण (अव्यक्त) ब्रह्मरामसे नामका बड़ा होना दोहा २३ (५) से '*निरगुन तें येहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार।*' (५३) तक कहा गया। अब यहाँ उपसंहारमें दोनोंको फिर एक साथ कहते हैं। '*ब्रह्म राम तें नामु बड़*...', '*कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें*' २३ (५) उपक्रम है। यहाँतक अव्यक्त ब्रह्म राम, व्यक्त ब्रह्म (सगुण) राम और नाम दोनोंके गुण दिखलाकर यह सिद्ध किया कि जो गुण राममें हैं वे सब वरंच उनसे अधिक नाममें हैं। क्योंकि वे गुण नामद्वारा अनन्त हो जाते हैं।

नोट—२ '*बरदायक बरदानि*' इति। मुख्य वरदाता तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये भी रामनाम जपकर ही सिद्ध हुए हैं। यथा—'**अहं च शंकरो विष्णुस्तथा सर्वे दिवौकसः। रामनामप्रभावेण सम्प्राप्तास्सिद्धिमुत्तमाम्॥**' (विष्णुपुराणे ब्रह्मवाक्यम्), '**सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च। शम्भुना रामरामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥**' (पुलहसंहिता), '**यत्प्रसादेन कर्त्ताभूद्देवो ब्रह्मा प्रजापतिः। यत्प्रभावेण हर्त्ताहं त्राता विष्णू रमापतिः॥ ये नराधमलोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपं दयां शौचं शास्त्राणामवगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणु त्वं पार्वति प्रिये॥**' (रुद्रयामल) इन उद्धरणोंसे भी यह सिद्ध है कि विधि-हरि-हर आदि सभी रामनामके प्रभावसे वरदाता हैं। गणेशजी इसीसे प्रथम पूज्य हुए। पार्वतीजी सदा जपती ही हैं।

(१) ☞ '*रामचरित सतकोटि महँ*'... इति*। आनन्दरामायण, मनोहरकाण्डमें लिखा है कि वाल्मीकिजीने 'शतकोटिरामायण' रचा। उसमें सौ-करोड़ श्लोक, नौ लाख काण्ड और नब्बे लाख सर्ग हैं। यथा—'**नवलक्षाणि काण्डानि शतकोटिमिते द्विज॥ सर्गा नवतिलक्षाश्च ज्ञातव्या भुवि कीर्त्तिताः। कोटीनां च शतं श्लोकमानं ज्ञेयं विचक्षणैः॥**' (सर्ग १७। १४-१५) आनन्दरामायणादि अनेक रामायणोंमें उसीकी बहुत संक्षिप्त कथाएँ हैं और जो वाल्मीकीय आजकल प्रचलित है वह भी उसीमेंसे ली हुई संक्षिप्त कथा है। यह चतुर्विंशति वाल्मीकीय रामायण सबमें प्रथम है। (सर्ग ८ श्लोक ६३ आदि)

* अर्थ—(२)—'राम ब्रह्मसे नाम बड़ा है, वर देनेवाला है। इसीके प्रसादसे श्रीमहादेवजी स्वयं वरदायक हुए हैं।' (सु० द्विवेदीजी)

(२) आनन्दरामायण-यात्राकाण्डमें लिखा है कि—वाल्मीकिजीने शतकोटिरामायण लिखा। मुनियोंने उसको ग्रहण किया। आश्रममें कथा होती थी। तीनों लोक देव, यक्ष, किन्नर, दैत्य आदि सुननेको आते थे। जब सबने सविस्तार सुना तब सभीको चाह हुई कि हम इस काव्यको अपने लोकको ले जायँ। परस्पर बहुत वाद-विवाद होने लगा तब शिवजी सबको रोककर उस ग्रन्थको लेकर सबके सहित क्षीरसागरको गये और भगवान्‌से उन्होंने सब कलह निवेदन किया। तब भगवान्‌ने उसके तीन भाग बराबर-बराबर किये। इस तरह तैंतीस करोड़, तैंतीस लाख, तैंतीस हजार, तीन सौ तैंतीस श्लोक और दस अक्षर प्रत्येक भागमें आये। केवल राम ये अक्षर बच रहे। तब शिवजीके माँगनेपर भगवान्‌ने ये दोनों अक्षर उनको दे दिये, जिससे शिवजी अन्तकालमें काशीके जीवोंको मुक्ति देते हैं। यथा—'**द्वेऽक्षरे याचमानाय मह्यं शेषे ददौ हरिः। उपदिशाम्यहं काश्यां तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ।', रामेति तारकं मन्त्रं तमेव विद्धि पार्वति।**' (सर्ग २। १५-१६)।

(३) उपर्युक्त तीन भागोंमेंसे एक भाग देवताओंको, एक मुनियोंको और तीसरा नागोंको मिला। मुनियोंवाला भाग पृथ्वीमें रहा। पृथ्वीमें बराबर-बराबरके सात भाग करके यह भाग बाँट दिया गया। चार करोड़, सत्तर्0 लाख, उन्नीस हजार, सैंतालीस श्लोक सातोंको बाँटनेपर चार श्लोक बच रहे। वह भगवान्‌से ब्रह्माजीने माँग लिये। ये चार श्लोक वही हैं, जो नारदजीने व्यासजीको उपदेश किया जिसका विस्तार 'श्रीमद्भागवत' हुआ। जिस द्वीपमें जितने खण्ड हैं उस द्वीपका भाग उतने खण्डोंमें समभाग होकर बँटा। जम्बूद्वीपमें नौ खण्ड हैं। अतएव इसके प्रत्येक खण्डमें बावन लाख, एक्कानबे हजार, पाँच श्लोक और सात-सात अक्षर गये। एक अक्षर 'श्री' बच रहा। भगवान्‌ने कहा कि यह अक्षर नवों खण्डवाले अपने यहाँके नामके समस्त मन्त्रोंमें लगा लें। जितने भी पुराण, उपपुराण, शास्त्र आदि ग्रन्थ जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें हैं, वे सब इन्हीं बावन लाख, एक्कानबे हजार, पाँच श्लोकोंसे निर्माण किये गये हैं।

शतकोटि रामचरितके बँटवारेका उल्लेख तथा श्रीशिवजीका उसमेंसे केवल 'रा', 'म' इन दो अक्षरोंका पाना हमें बहुत खोजनेपर भी अभीतक आनन्दरामायणहीमें मिला है। इसलिये प्रसङ्गानुकूल हमने इसको सर्वप्रथम यहाँ लिखा।

(४) शतकोटिकी चर्चा कुछ पुराणों तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी पायी जाती है। (क) पद्मपु० पातालखण्डमें शेषजीने वात्स्यायनजीसे जो कहा है कि—'**चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। येषां वै यादृशी बुद्धिस्ते वदन्त्येव तादृशम्॥**' (१। १४) अर्थात् श्रीरघुनाथजीका चरित शतकोटि श्लोकमें विस्तारसे लिखा गया है। जिसकी जितनी बुद्धि है, उतना वह कहता है—इससे भी श्रीरामचरितका शतकोटि श्लोकबद्ध होना प्रामाणिक है।

(ख) पाराशर्य उपपुराणमें वाल्मीकीय रामायणके माहात्म्यमें लिखा है कि—यह जो शतकोटि-रामायण है वह मेरे (शिव) लोकमें, विष्णुलोक और सत्यलोकमें विराजमान है। ध्रुवलोकमें पचास करोड़, गोलोकमें दस करोड़, इन्द्रलोकमें एक करोड़, सूर्यलोकमें पचास करोड़, गन्धर्व-यक्षादि मुख्य-मुख्य लोकोंमें एक-एक करोड़ गाया जाता है। उसीमें चौबीस हजार देवर्षि नारदजी परमानन्दमें निमग्न होकर व्याख्यान करते हैं जिसको उनके मुखसे सुनकर तुम (पार्वतीजी) पाठ किया करती हो। इसीका उपदेश नारदजीने वाल्मीकिजीको किया और इनके द्वारा यह मर्त्यलोकमें प्रसिद्ध हुआ। यथा—'**एतद्रामायणं श्रीमच्छतकोटिप्रविस्तरम्। मल्लोके विष्णुलोके च सत्यलोके च भामिनि।**' ....'**व्याख्याति नारदस्तेषां परमानन्दनिर्भरः।**' '**चतुर्विंशतिसाहस्त्रीं श्रीरामायणसंहिताम्। उपादिशत् स वाल्मीके लोके प्राचीकशत् सताम्।**' **यामेतां नारदात् श्रुत्वा त्वं नित्यं पठसि प्रिये। सैषा चरति भूलोके श्रीरामायणसंहिता॥**' (अ० ५। ३५, ३८—४०)।

(ग) शिवसंहिता (श्रीहनुमत्-प्रेस, श्रीअयोध्याकी छपी हुई) में इस सम्बन्धके श्लोक ये हैं—'**रामायणस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान्स्वयम्। ब्रह्मा चतुर्मुखश्चान्ये तस्योच्छिष्ट भुजः प्रिये॥**'

अनन्तेनापि कोट्यानां शतेनास्य प्रपञ्चनम्। रामायणस्य बुध्यर्थं कृतं तेन विजानता॥' (९-१० अ० ७) अर्थात् समग्र रामायणके वक्ता स्वयं चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा हैं। यद्यपि श्रीरामचरित अपार है तथापि अपने बोधके लिये शतकोटिमें रचा गया है।

इन तीनोंमें रामचरितका 'शतकोटि' होना पाया जाता है। परन्तु इनमें बँटवारेकी चर्चा नहीं है। अन्य किसी स्थलपर हो तो ज्ञात नहीं है। तीसरेमें केवल भेद इतना है कि शतकोटिरामायणके कर्त्ता ब्रह्माजी बताये गये हैं जो कल्पभेदसे ठीक हो सकता है। अथवा, ब्रह्मा और वाल्मीकिमें अभेद मानकर कहा गया हो। तत्त्वदीपिकाकार श्रीमहेश्वरतीर्थजीने स्कन्दपुराणके—'**वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वाक् तस्य रूपिणी। चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः॥**' इस प्रमाणसे वाल्मीकिजीको ब्रह्माजीका अंशावतार माना है।

श्री पं०नागेश भट्टजीने अपने '**रामाभिरामीय**' टीकामें लिखा है कि ब्रह्माके अंशभूत प्राचेतस वाल्मीकिजीने अपनी रची हुई शतकोटिरामायणका सारभूत चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकात्मक वाल्मीकीय रामायण कुश और लवको पढ़ाया। यथा—'**ब्रह्मांशभूतेव भगवान् प्राचेतसो वाल्मीकिः स्वकृतशतकोटिरामायणसारभूतं""रामायणं चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकरूपं कुशलवाभ्यामग्राहयत्।**' (बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक १ मेंसे) इसका प्रमाण वे यह देते हैं—'**शापोक्त्या हृदि सन्तप्तं प्राचेतसमकल्मषम्। प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृतः॥ न निषादः स वै रामो मृगयां कर्त्तुमागतः। तस्य संवर्णनेनैव सुश्लोक्यस्त्वं भविष्यसि॥ इत्युक्त्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोकं सनातनः। ततः संवर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः॥**' अर्थात् निषादको शाप देनेके पश्चात् मुनिको पश्चात्ताप हुआ, तब वहाँ ब्रह्माजी आ प्राप्त हुए। उनका सत्कार होनेके बाद उन्होंने कहा कि वह निषाद नहीं था किन्तु श्रीराम ही मृगयाके मिष आये थे। उनके वर्णनसे तुम प्रसिद्ध हो जाओगे। ऐसा कहकर वे ब्रह्मलोकको चले गये। तत्पश्चात् उन्होंने कई करोड़ श्लोकोंमें रामायण बनाया। श्रीनागेश भट्टजी श्लोकान्तर्गत '**कोटिभिः**' का अर्थ शतकोटि करते हैं। '**कोटिभिः**' का अर्थ है 'करोड़ों', परन्तु अन्यत्र '**चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्**' ऐसा वाक्य आया है। उसके सम्बन्धसे यहाँ '**कोटिभिः**' का अर्थ शतकोटि किया है। इससे भी हमारे उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है।

परन्तु, (घ) मत्स्यपुराण अ० ५३ में भगवान्ने कहा है कि प्रथम एक ही पुराण था जिसको ब्रह्माने शतकोटि श्लोकोंमें बनाया था। यथा—'**पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्॥ पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ। त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥**'(३-४) कालानुसार जब लोग इतने भारी विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तब मैं ही व्यासरूपसे द्वापरके अन्तमें चार लक्ष प्रमाणमें अठारह पुराणोंके रूपमें उसीको बनाता हूँ। वह शतकोटि देवलोकमें अद्यापि विराजमान है। (श्लोक ८—१०) वेदार्थप्रतिपादक एकलक्षप्रमाणका महाभारत बनाता हूँ। ब्रह्माने जो शतकोटि बनाया है, उसमेंसे श्रीरामोपाख्यान ग्रहण करके उन्होंने नारदजीको बताया और उसीको वाल्मीकिजीने चौबीस हजार प्रमाणमें बनाया। इस प्रकार सवा पाँच लाख प्रमाणका पुराण भारतवर्षमें वर्तमान है। यथा—'**भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्। लक्षेणैकेन यत्प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम्॥**' **वाल्मीकिना तु यत्प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्। ब्रह्मणाभिहितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्॥ आहृत्य नारदायैव तेन वाल्मीकये पुनः। वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थसाधनम्। एवं सपादः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्त्तिताः॥**' (६९—७१)

लगभग यही सब विषय स्कन्द पु० प्रभासखण्ड प्रभासमाहात्म्य अ० २ श्लोक ९३ इत्यादिमें है और कुछ श्लोक भी दोनोंके मिलते हैं, केवल इतनी बात (स्कन्दमें इस स्थानमें) नहीं है कि प्रथम एक ही पुराण था। इन दोनों ग्रन्थोंमें वर्तमान वाल्मीकीयका इस शतकोटि पुराणसे रचा जाना सिद्ध होता है और उपर्युक्त अन्य प्रमाणोंसे वर्तमान वाल्मीकीयका शतकोटिरामायणसे रचा जाना पाया जाता है। इससे यह निश्चय होता है कि शतकोटिरामायण और शतकोटि पुराण एक ही वस्तु हैं। ऐसा मान लेनेसे एकवाक्यता हो सकती है।

इसपर शङ्का हो सकती है कि जब वह शतकोटिरामायण ही है तब उसको पुराण कहकर उससे वर्तमान चतुर्विंशति वाल्मीकीयका होना क्यों कहा ? तो उसका समाधान यह हो सकता है कि सम्भवतः उसमें श्रीरामचरितके साथ-साथ अन्य देवताओं; अवतारों और राजाओं आदिके उपाख्यान प्रसङ्गानुसार विस्तृतरूपसे कहे गये हैं, उसमेंसे रामभक्तोंके लिये केवल श्रीरामचरित चुनकर यह वाल्मीकीय ग्रन्थ बनाया गया और उसका नाम रामायण रखा गया और इस चतुर्विंशतिवाल्मीकीयसे-उस शतकोटिका भेद दिखानेके लिये उसका नाम रामायण न कहकर व्यासजीने उसे 'पुराण' कहा; जिसका अर्थ पुराण अर्थात् प्राचीन पुरातन (रामायण) हो सकता है।

नोट—३ श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि प्रत्येक त्रेतायुगमें श्रीरामावतार होता है। इस तरह ब्रह्माके एक दिनमें चौदह बार श्रीरामावतार होता है। (हमको इसका प्रमाण नहीं मिला) ब्रह्माकी पूरी आयु भगवान् शङ्करका एक दिन है। शङ्करजी अपने वर्षोंसे सौ वर्ष रहते हैं। फिर शिवकी पूरी आयु भगवान् विष्णुका एक दिन है। ये भी अपनी आयुसे सौ वर्ष रहते हैं। विष्णुके सौ वर्ष पूरे होनेपर एक सृष्टिचक्र पूरा होता है। स्मरण रहे कि यहाँ जिन त्रिदेवकी बात है वे त्रिगुणोंमेंसे रज, तम और सत्त्वके अधिष्ठाता हैं। त्रिपाद्विभूतिस्थ त्रिदेव शाश्वत हैं, उनकी चर्चा यहाँ नहीं है।—सृष्टिके इतने दीर्घ चक्रमें प्रत्येक त्रेतामें जो रामावतार होते हैं उनमें कुछ-न-कुछ चरितगत अन्तर रहता है। अतः प्रत्येक त्रेताका रामचरित भिन्न-भिन्न है। ऐसे रामचरितों-रामायणोंकी कोई संख्या करना कठिन है। (७। ५२) (२) ***'राम चरित सतकोटि अपारा'*** में 'शतकोटि' के साथ 'अपारा' कहकर सूचित किया है कि कवि शतकोटिको 'अनंत' के अर्थमें लेता है। इन रामायणोंमेंसे अपनी रुचि एवं अधिकारके अनुसार लोग किसी चरितको अपना आदर्श आराध्य बना लेते हैं। किन्तु भगवान् शङ्करने अपना कोई चरित आराध्य नहीं बनाया। वे तो रामनामके आराधक हैं, यही यहाँका भाव है।

गोस्वामीजीका मत है कि कल्प-कल्पमें श्रीरामावतार होता है। इस प्रकार भी ब्रह्माकी आयुभरमें छत्तीस हजार बार श्रीरामावतार होना निश्चित ही है। शिवजी की आयुभरमें ३६०००×३६००० बार अवतार होना चाहिये और सृष्टिके एक चक्रमें ३६०००×३६०००×३६००० अर्थात् ४६६५६००००००००० बार अवतार निश्चित होता है।

नोट—४ 'जब 'रा', 'म' को शिवजीने सार समझकर ले लिया, तो वहाँ तो छाँछ ही रह गया?' इस शङ्काका समाधान यों किया जाता है कि 'रामायण' का अर्थ 'राम+अयन' अर्थात् 'रामका घर' है। वे तो उसमें सदा रहते ही हैं। पुनः, 'रामायण' को राम-तन भी कहते हैं क्योंकि नाम, रूप, लीला, धाम चारों नित्य परात्पर सच्चिदानन्द विग्रह (भगवान्‌के) माने गये हैं और रामचरित्र ही रामलीला है। पुनः, रामायणके लिये आशीर्वाद है कि उसका एक-एक अक्षर महापातकको नाश करनेवाला है। प्रमाण यथा—**'चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥'**

विनयपत्रिकामें भी ऐसा ही कहा है, यथा—***'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है।'*** (पद २५४) जो भाव वहाँ है वही यहाँ है। वहाँ पूरा रूपक है, यहाँ साधारण वर्णन है। इसमें उपमाका एक देश केवल ग्रहण किया गया है। जैसे वेदोंका सार प्रणव 'ॐ' और 'राम' नाम है। ॐ या रामनाम सार लेनेसे वेदका महत्त्व घटा नहीं और न वह निःसार हुआ, वैसे ही 'राम' नाम रामायणमेंसे लेनेसे रामायण फिर भी वैसा ही परिपूर्ण है। 'राम' नाममें सारा चरित बीजरूपसे है, उसके अर्थमें सारा चरित है जैसा आगे दिखाया गया है। वाक्य और अर्थ अभिन्न हैं। भाव यह कि 'राम' नामसे ही सारा चरित भरा है, जो कार्य चरितसे होता है वह 'राम' नामसे होता है, यह समझकर उन्होंने इसीको अपनाया।

मिश्रजी—'राम' यह दोनों अक्षर रामायणका सार कैसे? उत्तर—रामतापिनी-उपनिषद्‌में लिखा है **'राजते महीस्थितः'** इसके दोनों शब्दोंके प्रथम अक्षर लेनेसे 'राम' निकलता है। यथा **'राजते'** का 'रा' और

'**महीस्थित:**' का 'म' अर्थात् राम। एवं समस्त रामायण 'राम' इस नामसे निकलता है। इस कारण रामायणका जीवात्मा 'राम' शब्द है।

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'राम' के अर्थमें सारा चरित्र है जैसा रामतापिनीसे सिद्ध होता है—'**रघो: कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थित:। स राम इति लोकेषु विद्वद्भि: प्रकटीकृत:॥ —राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा। प्रभा हीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम्॥ धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामत:। तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात्॥ तथा रामस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वत:॥**' अर्थात् पृथ्वीतलपर जो रघुकुलमें विराजते हैं और जिनको तत्त्ववेत्ताओंने 'राम' नामसे प्रकट किया। नररूप धारण करके राक्षसोंको इस तरह प्रभाहीनकर, जैसे राहु चन्द्रमाको करता है, अपने चरितद्वारा यथायोग्य राजाओंके धर्ममार्गको, नामसे ज्ञानमार्गको, ध्यानसे वैराग्यको और पूजनसे ऐश्वर्यको दर्शित करनेके कारण पृथ्वीपर तत्त्वत: श्रीरामजीका रामनाम प्रसिद्ध हो गया। (रा० पू० ता० १—५)

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगलरासी॥ १॥
सुक सनकादि सिद्ध[1] मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥ २॥

अर्थ—नामके प्रसादसे शिवजी अविनाशी हैं और (शरीरमें) अमङ्गल सामग्रियाँ होनेपर भी मङ्गलकी राशि हैं॥ १॥ श्रीशुकदेवजी, श्रीसनकादिजी, सिद्ध, मुनि और योगीलोग नामहीके प्रसादसे ब्रह्मसुखके भोग करनेवाले हैं॥ २॥

नोट—१ अब नामकी बड़ाई पाँचवें प्रकारसे कहते हैं। (पं० रामकुमारजी) वा, अब नामका फल कहते हैं (मा० प्र०) अथवा, अब नामके बड़ाईकी करनी वा कामका फल कहते हैं। (रा० प्र०, सू० मिश्र)

नोट—२ पं० सुधाकर द्विवेदी—'विष खानेसे भी न मरे, इसलिये '*अबिनासी*' होना सत्य हुआ। यद्यपि चिताकी भस्म, साँपका आभूषण, नरमुण्डके माल इत्यादि अशुभ वेष किये हैं, तथापि नामके बलसे महादेव मङ्गलकी राशि कहलाते हैं, शङ्कर-शिव इत्यादि नामसे पुकारे जाते हैं और बात-बातपर सेवकोंपर प्रसन्न हो अलभ्य वरदान देते हैं; जिनके पुत्र गणेशजी मङ्गलमूर्त्ति कहलाते हैं, वे वस्तुत: मङ्गलराशि हैं।

नोट—३ मा० मा० कारका मत है कि 'शम्भु तो सनातन अविनाशी हैं ही पर नामके प्रसादसे सब साज भी अविनाशी और मङ्गलके राशि हो गये।' पर अर्थमें उन्होंने यही लिखा है कि 'नामहीकी कृपासे शिवजी अविनाशी हैं।' और यही ठीक है जैसा कि '*कालकूट फल दीन्ह अमी को*' से स्पष्ट है।

श्रीरामनामके ही प्रतापसे अविनाशी भी हुए, इसके प्रमाण ये हैं—'**यन्नाम सततं ध्यात्वाऽविनाशित्वं परं मुने। प्राप्तं नाम्नैव सत्यं तु सगोप्यं कथितं मया॥**' (शि० पु०), '**रामनामप्रभावेण ह्यविनाशिपदं प्रिये। प्राप्तं मया विशेषेण सर्वेषां दुर्लभं परम्॥**' (आदिपुराण) विशेष १९ (३) '*महामंत्र जोइ जपत महेसू।*……' में लिखा जा चुका है। (पूर्वसंस्करणोंमें जो लिखा गया था वह प्रसङ्गानुकूल न होनेसे छोड़ दिया गया।)

नोट—४ '*साजु अमंगल मंगलरासी*' इति। श्रीरामनामकी ही कृपा और प्रभावसे अमङ्गल वेषमें भी मङ्गलराशि हैं, इसका प्रमाण पद्मपुराणमें है। कथा इस प्रकार है—श्रीपार्वतीजी पूछ रही हैं कि—'जब कपाल, भस्म, चर्म, अस्थि आदिका धारण करना श्रुतिबाह्य है तब आप इन्हें क्यों धारण करते हैं।' यथा—'**कपालभस्मचर्मास्थिधारणं श्रुतिगर्हितम्। तत्त्वया धार्यते देव गर्हितं केन हेतुना॥**' (१६) श्रीशिवजीने

१. साधु—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। सिद्ध—१६६१, १७०४।

उत्तर देते हुए कहा है कि एक समयकी बात है कि नमुचि आदि दैत्य सर्वपापरहित भगवद्भक्तियुक्त वेदोक्त आचरण करनेवाले होकर, इन्द्रादि देवताओंके लोक छीनकर राज्य करने लगे। तब इन्द्रादि भगवान्‌की शरण गये पर भगवान्‌ने उनको भगवद्भक्त और सदाचारी होनेके कारण मारना उचित न समझा। भक्त होकर भी भगवान्‌के बाँधे हुए लोक-मर्यादा और नियम भङ्ग कर रहे हैं, अतः उनका नाश करना आवश्यक है; इसलिये उनकी बुद्धिमें भेद डालकर सदाचारसे मन हटानेकी युक्ति सोचकर वे (भगवान्) हमारे पास आये और हमें यह आज्ञा दी कि आप दैत्योंकी बुद्धिमें भेद डालकर उस सदाचारसे उनको भ्रष्ट करनेके लिये स्वयं पाखण्डधर्मोंका आचरण करें। यथा—'**त्वं हि रुद्र महाबाहो मोहनार्थं सुरद्विषाम्। पाखण्डाचरणं धर्मं कुरुष्व सुरसत्तम्॥ २८॥** [पाखण्डाचरणधर्मका लक्षण पार्वतीजीसे उन्होंने पूर्व ही बताया है। वह इस प्रकार है—'**कपालभस्मास्थिधरा ये ह्यवैदिकलिङ्गिनः। ऋते वनस्थाश्रमाच्च जटावल्कलधारिणः॥ ५॥ अवैदिक-क्रियोपेतास्ते वै पाखण्डिनस्तथा।**'] 'आपका परत्व सब जानते ही हैं। इसलिये आपके आचरण देखकर वे सब दैत्य उसीका अनुकरण करने लगेंगे और हमसे विमुख हो जायँगे और जब-जब हम अवतार लिया करेंगे तब-तब उनको दिखानेके लिये हम भी आपकी पूजा किया करेंगे' जिससे उनका इन आचरणोंमें विश्वास हो जायगा और उसीमें लग जानेसे वे नष्ट हो जायँगे।' यह सुनकर हमारा मन उद्विग्न हो गया और मैंने उनको दण्डवत् कर प्रार्थना की कि मैं आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ, पर मुझे बड़ा दुःख यह है कि इन आचरणोंसे मेरा भी नाश हो जायगा और यदि नहीं करता हूँ तो आज्ञा उल्लङ्घन होती है, यह भी बड़ा दुःख है।

मेरी दीनता देख भगवान्‌ने दया करके मुझे अपना सहस्रनाम और षडक्षर तारक-मन्त्र देकर कहा कि मेरा ध्यान करते हुए मेरे इस मन्त्रका जप करनेसे तुम्हारा सर्व पाखण्डाचरणका पाप नष्ट हो जायगा और तुम्हारा मङ्गल होगा। यथा—'**दत्तवान्कृपया मह्यमात्मनामसहस्रकम्॥ ४६॥ हृदये मां समाधाय जपमन्त्रं ममाव्ययम्॥ षडक्षरं महामन्त्रं तारकब्रह्मसंज्ञितम्॥ ४७॥ इमं मन्त्रं जपन्नित्यममलस्त्वं भविष्यसि। भस्मास्थिधरणाद्यत्तु सम्भूतं किल्बिषं त्वयि॥ ५१॥ मङ्गलं तदभूत्सर्वं मन्मन्त्रोच्चारणाच्छुभात्।**' अतएव देवताओंके हितार्थ भगवान्‌की आज्ञासे मैंने यह अमङ्गल साज धारण किया। (पद्मपु० उत्तरखण्ड अ० २३५)

"साजु अमंगल" इति। कपाल, भस्म, चर्म, मुण्डमाला आदि सब ***'अमंगल साज'*** है। शास्त्रसदाचारके प्रतिकूल और अवैदिक है, इसीसे कल्याणका नाश करनेवाला है जैसा कि उपर्युक्त कथासे स्पष्ट है। पर श्रीरामनाम-महामन्त्रके प्रभावसे, उसके निरन्तर जपसे, वे मङ्गल-कल्याणकी राशि हैं। अन्यत्र भी कहा है—*'अशिव वेष शिवधाम कृपाला।'* ☞ मिलान कीजिये—'**श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहरपिशाचाः सहचराश्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः। अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि॥ २४॥** (महिम्नस्तोत्र) अर्थात् हे कामारि! श्मशान तो आपका क्रीडास्थल है, पिशाच आपके सङ्गी-साथी हैं, चिताभस्म आप रमाये रहते हैं, मुण्डमालधारी हैं, इस प्रकार वेषादि तो अमङ्गल ही हैं फिर भी जो आपका स्मरण करते हैं उनके लिये आप मङ्गलरूप ही हैं।

नोट—५ ***'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी।—'*** इति। (क) श्रीशुकदेवजी भी श्रीरामनामके प्रसादहीसे ऐसे हुए कि परीक्षित् महाराजकी सभामें व्यासादि जितने भी महर्षि बैठे थे सबने उठकर उनका सम्मान किया। शुकसंहितामें उन्होंने स्वयं कहा है कि श्रीरामनामसे परे कोई अन्य पदार्थ श्रुतिसिद्धान्तमें नहीं है और हमने भी कहीं कुछ और न देखा है न सुना। श्रीशङ्करजीके मुखारविन्दसे श्रीरामनामका प्रभाव शुकशरीरमें सुनकर हम साक्षात् ईश्वरस्वरूप समस्त मुनीश्वरोंसे पूज्य हुए। यथा—'**यन्नामवैभवं श्रुत्वा शङ्कराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥ नातः परतरं वस्तु श्रुतिसिद्धान्तगोचरम्। दृष्टं श्रुतं मया क्वापि सत्यं सत्यं वचो मम॥**' (शुकसं०, सी० रा० प्र० प्र० से उद्धृत)

अमर-कथा

श्रीशुकदेवजीके श्रीरामनामपरत्व सुनकर अमर होनेकी कथा इस प्रकार है—एक समय श्रीपार्वतीजीने श्रीशिवजीसे पूछा कि आप जिससे अमर हैं वह तत्त्व कृपा करके मुझे उपदेश कीजिये। यह सोचकर कि यह तत्त्व परम गोप्य है, भगवान् शङ्करने डमरू बजाकर पहले समस्त जीवोंको वहाँसे भगा दिया। तब वह गुह्य तत्त्व कथन करने लगे। दैवयोगसे एक शुकपक्षीका अण्डा वहाँ रह गया जो कथाके समय ही फूटा। वह शुकपोत अमरकथा सुनता रहा। बीचमें श्रीपार्वतीजीको झपकी आ गयी तब वह शुकपोत उनके बदले हुँकारी देता रहा। पार्वतीजी जब जगीं तो उन्होंने प्रार्थना की कि नाथ! मुझे झपकी आ गयी थी, अमुक स्थानसे फिरसे सुनानेकी कृपा कीजिये। उन्होंने पूछा कि हुँकारी कौन भरता था ? और यह जाननेपर कि वे हुँकारी नहीं भरती थीं, उन्होंने जो देखा तो एक शुक देख पड़ा। तुरन्त उन्होंने उसपर त्रिशूल चलाया पर वह अमर-कथाके प्रभावसे अमर हो गया था। त्रिशूलको देख वह उड़ता-उड़ता भगवान् व्यासजीके यहाँ आया और व्यासपत्नी-(जो उस समय जँभाई ले रही थीं-) के मुखद्वारा उनके उदरमें प्रवेश कर गया। वही श्रीशुकदेवजी हुए। ये जन्मसे ही परमहंस और मायारहित रहे। इनकी कथाएँ श्रीमद्भागवत, महाभारत आदिमें विलक्षण-विलक्षण हैं। (श्रीरूपकलाजीकृत भक्तमाल-टीकासे)

सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'शुक नाम-माहात्म्यरूप भागवतके ही कारण महानुभाव हुए, पिता व्यास, पितामह पराशरसे भी परीक्षित्‌की सभामें आदरको पाया।'

(ख) ***'ब्रह्मसुख भोगी'*** कहकर जनाया कि वे ब्रह्मरूप ही हो गये। यथा—**'योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।'** (भा० १२। १३। २१)

(ग) श्रीसनकादि भी नामप्रसादसे ही जीवन्मुक्त और ब्रह्मसुखमें लीन रहते हैं, यह इससे भी सिद्ध होता है कि ये श्रीरामस्तवराजस्तोत्रके ऋषि (प्रकाशक) हैं। उस स्तवराजमें श्रीरामनामको ही **'परं जाप्यम्'** बताया गया है। यथा—**'श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।'** (५), ***'ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना॥'*** (७। ३२), ***'जीवनमुक्त ब्रह्मपर।'*** (७। ४२)

सू० मिश्र—यह बात भा० २। १। ११ में लिखी है कि ज्ञानियोंको यही ठीक है कि प्रत्येक क्षणमें परमेश्वरका नाम लेवें और कुछ नहीं। यथा—**'योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्।'** **'योगिनाम्'** का अर्थ श्रीधरस्वामीने यह लिखा है—**'योगिनां ज्ञानिनां फलं चैतदेव निर्णीतं नात्र प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः।'** अर्थात् यह फल योगियों अर्थात् ज्ञानियोंका निर्णय किया हुआ है।

श्रीमद्भागवतके अन्तमें भी यह लिखा है कि परमेश्वरका नाम सारे पापको नाश करनेवाला है। यथा—**'नाम सङ्कीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्। प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥'** (१२। १३। २३) इसी कारण गोसाईंजीने लिखा कि शुक-सनकादि भी नामके प्रभावसे सुखका अनुभव करते हैं। (मानसपत्रिका)

नोट—६ श्रीशुकदेवजीको श्रीसनकादिके पहले यहाँ भी लिखा है। इसका कारण मिश्रजी यह लिखते हैं कि 'शुकदेवजी अनर्थप्रद युवावस्थाके अधीन न हुए। सनकादिकोंने परमेश्वरसे वरदान माँगा कि हम बालक ही बने रहें जिससे कामके वशीभूत न हों। इस कारण इनके नामका उल्लेख ग्रन्थकारने पीछे किया।......' शुकदेवजी परमेश्वरके रूप ही कहे जाते हैं, यथा—**'योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे। संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥'** (भा० १२। १३। २१) दोहा १८ (५) देखिये।

श्रीबालअलीजीने इसका कारण यों लिखा है कि—*'जन जु अनन्य आश्रय बल गहै। तिनपर दया न करि हरि चहै। वय आश्रित सनकादिक भयो। क्रोध अभयपुरमें ह्वै गयो। हरि आश्रित शुक यौवन माहीं। काम क्रोध नहिं तिहि ढिग जाहीं॥'* (सिद्धान्तदीपिका। मा० मा०), अर्थात् श्रीशुकदेवजी युवावस्थामें रहते हुए सदा भगवान्‌के आश्रित रहे, तब *'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* और

श्रीसनकादिजीने पाँच वर्षकी अवस्थाको विकाररहित जानकर उस अवस्थाका आश्रय लिया था न कि प्रभुका। इसीसे उनमें विकार आ ही गया।

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि[1] हरि हर प्रिय आपू॥ ३॥

अर्थ—श्रीनारदजीने नामका प्रताप जाना। जगन्मात्रको हरि प्रिय हैं, हरिको हर प्रिय हैं और हरि तथा हर दोनोंको आप प्रिय हैं॥ ३॥

नोट—१ *'नारद जानेउ नाम प्रतापू'* इति। कैसे जाना ? इसी ग्रन्थमें इसका एक उत्तर मिलता है। नारदको दक्षका शाप था कि वे किसी एक स्थानपर थोड़ी देरसे अधिक न ठहर सकें। यथा—'**तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम्।**' (भा० ६। ५। ४३) अर्थात् सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा। परन्तु हिमाचलकी एक परम पवित्र गुफा जहाँ गङ्गाजी बह रही थीं, देखकर ये वहाँ बैठकर भगवन्नामका स्मरण ज्यों ही करने लगे, त्यों ही शापकी गति रुक गयी, समाधि लग गयी। यथा—*'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥'* (१। १२५) इन्द्रने डरकर इनकी समाधिमें विघ्न डालनेके लिये कामको भेजा। उसने जाकर अनेक प्रपञ्च किये, पर *'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।'* नारदके मनमें न तो काम ही उत्पन्न हुआ और न उसकी करतूतिपर उनको क्रोध हुआ। यह सब नाम-स्मरणका प्रभाव था, जैसा कहा है—*'सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* (१। १२६) परन्तु उस समय दैवयोगसे वे भूल गये कि यह स्मरणका प्रभाव एवं प्रताप है। उनके चित्तमें अहङ्कार आ गया कि शङ्करजीने तो कामहीको जीता था और मैंने तो काम और क्रोध दोनोंको जीता है। उसका फल जो हुआ उसकी कथा विस्तारसे ग्रन्थकारने आगे दी ही है। भगवान्ने अपनी मायासे उनके लिये लीला रची जिसमें उनको काम, लोभ, मोह, क्रोध, अहङ्कार सभीने अपने वश कर लिया। माया हटा लेनेपर प्रभुके चरणोंपर त्राहि-त्राहि करते हुए गिरनेपर प्रभुकी कृपासे इनकी बुद्धि ठीक हुई और इन्होंने जाना कि यह सब नामस्मरणका ही प्रताप था; इसीसे अवतार होनेपर उन्होंने यह वर माँग लिया कि 'रामनाम सब नामोंसे श्रेष्ठ हो', श्रीरामनामके वे आचार्य और ऋषि हुए। गणेशजी, प्रह्लादजी, व्यासजी आदिको नामका प्रताप आपने ही तो बताया है।'

नोट—२ *'जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू'* इति। इसमें 'मालादीपक अलङ्कार' है। इस अलङ्कारमें एक धर्मके साथ उत्तरोत्तर धर्मियोंका सम्बन्ध वर्णित होता है। यथा—(साहित्यदर्पणे) '**तन्मालादीपकं पुनः। धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्॥**' उदाहरण यथा—'**त्वयि संगरसम्प्राप्ते धनुषा सादिताः शराः। शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः॥**' अर्थात् संग्राममें आपके आनेपर धनुषने शर, शरने शत्रुशिर, उसने पृथ्वी, पृथिवीने आपको और आपने यशको प्राप्त किया। यहाँ धनुरादि सभी धर्मियोंकी प्राप्ति, कर्तृत्वरूपी एक धर्मका वर्णन हुआ है। अतः यहाँ मालादीपकालङ्कार माना गया। उसी तरह *'जग', 'हरि हर'* और *'आपू'* इन सभी धर्मियोंमें 'प्रियत्वरूपी एक धर्म' के वर्णनसे 'मालादीपक अलङ्कार' माना गया है। काव्यप्रकाशके मतमें पूर्वकथित वस्तुको उत्तरोत्तर वस्तुके उत्कर्षके हेतु होनेसे 'मालादीपक अलङ्कार' माना गया है। यथा—'**मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम्।**' इस मतसे भी यहाँ 'मालादीपक' ही होता है। क्योंकि

---

१. यह पाठ 'हरि हरि हर' १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० में है। १६६१ में प्रथम यही पाठ था; पर बीचके 'हरि' के 'ि' पर हरताल दिया गया है जिससे 'हरि हर हर' पाठ हो जाता है। इस पाठका अर्थ होगा—'जगत्को हरि प्रिय, हरिको हर प्रिय और हरको आप प्रिय हैं।' पंजाबीजी और वि० टी० तथा मा० प्र० ने 'हरि हर हरि' पाठ दिया है। जिसका अर्थ होगा—'जगको हरि प्रिय, हरिको हर और हर-हरिको आप प्रिय हैं।' वा, 'जगको हरिहर प्रिय हैं और हरिको आप प्रिय हैं।'

जगत्के प्रिय हरि, हरिके प्रिय हर और उनके प्रिय आप (नारद) हैं। इस प्रकारके कथनसे उत्तरोत्तर उत्कर्षकी प्रतीति स्पष्ट हो रही है।*

जगको हरि, हरिको हर, हरिहरको नारद प्रिय हैं। प्रमाण क्रमसे यथा—(१) *'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी॥'* (बा० २१६), *'मो बिनुको सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रानप्रिय नाहीं॥'* (अ० १८१), *'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं।'* (२। १६२) (२) *'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा'* (लं० २) *'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥'* (१। १३८) (३) *'करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥......कवन वस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिवर न सकहु तुम्ह मांगी॥'* (३। ४१-४२) *'मार चरित संकरहिं सुनाये। अति प्रिय जानि महेसु सिखाये॥'* (१। १२७) पुनश्च यथा—**'शास्म्यहं त्वया विशेषेण मम प्रियतमो भवान्। विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः॥'** (शिवपुराण, रुद्रसंहिता २ अ० २ श्लोक ३४) ये वचन श्रीशिवजीके हैं।

नोट—३ श्री सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'प्रथम 'हरि' से विष्णुका ग्रहण करनेके अर्थमें कुछ रोचकता नहीं आती।' वे उत्तरार्द्धका अर्थ यों करते हैं—'जगत्में जितने हरि और हरके प्रिय पात्र थे सबको (हरि) हरणकर अर्थात् सबको नीचाकर आप हरिहरके सर्वोत्तम प्रिय हुए; दासीपुत्रसे देवर्षि हो गये। यही अर्थ ग्रन्थकारको अभिप्रेत है'।

पं० रामकुमारजी इसका एक भाव यह कहते हैं कि 'रामनाम' भक्तके हृदयको निर्विकार कर देते हैं, हरिहरमें भेद नहीं रह जाता, भेद रहना ही विकार है, यथा—*'प्रथमहि कहि मैं सिवचरित बूझा मरम तुम्हार।'*

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥४॥

शब्दार्थ—प्रसादू=प्रसन्नता, रीझ, कृपा। **'प्रसादस्तु प्रसन्नता'** (अमरे १। ३। १६)

अर्थ—नामके जपनेसे प्रभुने प्रसन्नता प्रकट की जिससे प्रह्लादजी भक्तोंमें शिरोमणि हो गये॥४॥

नोट—१ *'भगत सिरोमनि।'* प्रह्लादजीको भक्तशिरोमणि कहा, क्योंकि द्वादश प्रधान भक्तोंमेंसे इनका नाम पाण्डवगीतामें प्रथम दिया गया है। यथा—**'प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि।।'** (१) भक्तशिरोमणि होनेका प्रमाण श्रीभागवतमें भी मिलता है, यथा—**'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥'** (भा० ७। १०। २१)। श्रीनृसिंहभगवान् कहते हैं कि 'संसारमें जो लोग तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे। निश्चय ही तुम मेरे सम्पूर्ण भक्तोंमें आदर्शस्वरूप हो।' भगवान्ने जब स्वयं उनको सम्पूर्ण भागवतोंमें आदर्श माना-जाना है तब 'भक्तशिरोमणि' गोस्वामीजीने ठीक ही कहा है। नवधाभक्तिके *'सुठि सुमिरन'* अत्यन्त स्मरणरूप भक्तिनिष्ठाके नियन्ता वा नेता आप ही हैं। किसने भगवान्को पाषाणसे प्रकट कराकर उनकी सर्वव्यापकता प्रकट की? नारदजी कहते हैं—**'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥** (भा० ७। ८। १८) अर्थात् भक्तकी वाणीको सत्य करने, अपनी व्यापकता सबको दिखानेके लिये सभाके उसी खम्भसे विचित्ररूप धारण किये हुए, जो न मनुष्य ही था न सिंह, प्रकट हो गये। —गोस्वामीजीने भी कहा है—*'सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े। प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन्ह पाहन तें परमेश्वर काढ़े॥'* (क० ७। १२७) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि नृसिंहजी

---

* अप्पय दीक्षितके मतानुसार यह अलङ्कार दीपक और एकावलीके मेलसे बनता है। 'जग जपु राम राम जपु जेही' में मालादीपक है।'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥', 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ विराग बिनु' में एकावली है। 'संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान तें ज्ञान पान तें लाजा॥ प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी॥' में दीपक है।

हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादको गोदमें लेकर जिह्वासे चाटते थे। ऐसी कृपा किसी भक्तपर नहीं प्रकट की गयी। इसीसे उनको भक्तशिरोमणि कहा।

नोट—२ शङ्का—प्रह्लादजी भक्तशिरोमणि हैं तो यहाँ उनको नारदजीसे पहले क्यों न कहा ?

समाधान—पाण्डवगीता और भागवतकी बात उन्होंने 'भक्त शिरोमणि' कहकर रखी और यह कहते हुए भी नारदजीको प्रथम रखकर गुरुकी मर्यादा, उनका उचित सम्मान करके रखी।

नोट—३ प्रह्लादजीने नारदजीसे कब उपदेश पाया? यह कथा भा० स्कं० ७ अ० ७ में है। यह कथा प्रह्लादजीने स्वयं दैत्यबालकोंसे उनको रामनाममें विश्वास दिलानेके लिये कही थी। वह यह है कि 'जब हिरण्यकशिपु तप करनेको चला गया तब इन्द्रादि देवताओंने दैत्योंपर धावा किया, वे सब जान बचाकर भगे। इन्द्र मेरी माता राजरानीको पकड़कर स्वर्गको चले। मार्गमें नारदजी मिले और उनसे बोले कि निरपराध सती और परस्त्रीको ले जाना अयोग्य है। इन्द्रने कहा कि इसके गर्भमें दैत्यराजका दुःसह वीर्य है, पुत्र होनेपर उसे मार डालूँगा और इसे तब छोड़ दूँगा। नारदजीने उत्तर दिया कि इसके गर्भमें एक निष्पाप, अपने गुणोंसे महान्, विष्णुभगवान्‌का अनुचर और पराक्रमी महाभागवत है। वह तुम्हारे द्वारा मारा नहीं जा सकता। यथा—'**अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्। त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली॥**' (७। १०) नारदजीके वचनका आदर कर विश्वास मान इन्द्रने उसे छोड़ दिया। नारदजी उसे अपने आश्रममें ले आये और मेरे उद्देश्यसे उन्होंने मेरी माताको धर्मके तत्त्व और विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दिया। ऋषिके अनुग्रहसे मैं उसे अभीतक नहीं भूला""जो प्रेमपूर्वक लज्जा छोड़कर 'हे हरे! हे जगन्नाथ! हे नारायण!' इत्यादि रीतिसे कीर्तन करता है वह मुक्त हो जाता है।

प्रह्लादजी सर्वत्र 'राम' हीको देखते थे। पिताने इनको पानीमें डुबाया, आगमें डाला, सिंह और मतवाले हाथियोंके आगे डलवाया इत्यादि अनेक उपाय करके हार गया, पर इनका बाल-बाँका न हुआ और इन्होंने 'रामनाम' न त्याग किया। अन्तमें उस दुष्टने स्वयं इनका वध करना चाहा। उसी समय पत्थरके खम्भेसे भगवान् रामचन्द्रजी नृसिंहरूपसे प्रकट हो गये और हिरण्यकशिपुका वध किया।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ* अचल अनूपम ठाऊँ॥ ५॥

शब्दार्थ—**सगलानि**=ग्लानिसहित। ग्लानि मनकी वह वृत्ति है जिसमें किसी अपने कार्यकी बुराई या दोष आदिको देखकर अरुचि, खेद और खिन्नता उत्पन्न होती है। **नाऊँ** (नाँव, नाम)=नाम। **ठाऊँ**=ठाम, स्थान।

अर्थ—श्रीध्रुवजीने ग्लानिसे (सौतेली माँके कठोर वचनोंसे हृदय बिंध जानेसे दुःखी होकर) भगवान्‌के नामको जपा। उससे उन्होंने अटल उपमारहित धाम पाया॥ ५॥

नोट—१ '*ध्रुव*' इति। इनकी कथा भागवत-स्कन्ध ४ अ० ८, ९, १०, ११, १२ में है। '*सगलानि*' का प्रसङ्ग अ० ८ श्लोक ९ से ३८ तक है। अ० ९ श्लोक २९ भी '*सगलानि जपेउ हरि नाऊँ*' का प्रमाण है यथा—'**मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन्। नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान्॥**' (मैत्रेयजी कहते हैं कि ध्रुवजीने अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे हृदयमें विद्ध होकर हरिका स्मरण करते हुए भी उन मुक्तिदातासे मुक्ति नहीं माँगी इससे उनको पश्चात्ताप हुआ। कथा इस प्रकार है—स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपाद थे जिनके दो रानियाँ थीं—एक सुनीति, दूसरी सुरुचि। छोटी रानी सुरुचिपर राजाका बड़ा प्रेम था, उससे 'उत्तम' हुआ और सुनीतिसे ध्रुवजी हुए। राजा प्रायः सुरुचिके महलमें रहते थे। एक दिन वहाँ बैठे जिस समय राजा उत्तमको गोदमें लिये खिला रहे थे, ध्रुवजी बालकोंके साथ खेलते-खेलते वहाँ पहुँच गये और पितासे जाकर कहा कि हम भी गोदमें बैठेंगे। राजाने सुरुचिके भयसे इनकी ओर देखा भी नहीं। ये बालक (पाँच वर्षके) थे, इससे सिंहासनपर चढ़ न सकते थे। इन्होंने कई बार

* थापेउ—१७२१, १७६२।

पुकारा पर राजाने कान न दिया। तब सुरुचि राजाके समीप ही बड़े अभिमानपूर्वक भक्तराजजीसे बोली—'वत्स! तू राजाकी गोदमें सिंहासनपर बैठनेकी इच्छा करता है, तू उसके योग्य नहीं। तू यह इच्छा न कर, क्योंकि तू हमारे गर्भसे नहीं उत्पन्न हुआ। तू राज्यसिंहासनका अधिकारी तभी होता जब हमारे उदरसे तेरा जन्म होता। तू बालक है, तू नहीं जानता कि तू अन्य स्त्रीका पुत्र है। जा, पहले तप करके भगवान्का भजन कर, उनसे वर माँग कि तेरा जन्म सुरुचिसे हो तब हमारा पुत्र हो राजाके आसनका अधिकारी हो सकता है। पहले अपने संस्कार अच्छे बना। अभी तेरा या तेरी माँका पुण्य इतना नहीं है।' अपने और अपनी माताके विषयमें ऐसे निरादरके और हृदयमें बिंधनेवाले विषैले वचन सुन ध्रुवजी खड़े ठिठक-से रह गये और लम्बी साँसें भरने लगे—राजा सब देखता-सुनता रहा पर कुछ न बोला। राजाको तुरत छोड़, चीख मारकर रोते, साँसें लेते, ओंठ फड़फड़ाते हुए आप माँके पास आये। साथके लड़के भी साथ गये। माँने यह दशा देख तुरत गोदमें उठा लिया। बालकोंने सब वृत्तान्त कह सुनाया। वह बोली—'वत्स! तू किसीके अमङ्गलकी इच्छा न कर; कोई दुःख दे तो उसे सह लेना चाहिये।""सुरुचिके वचन बहुत उत्तम और सत्य हैं। हम दुर्भगा हतभाग्या हैं, हमारे गर्भसे तुम हुए सो ठीक है। सिवाय भगवान्के और कोई दुःखके पार करने और सुखका देनेवाला नहीं। ब्रह्मा, मनु आदि सभी उन्हींके चरणोंकी भक्ति करके ऐश्वर्य और सुखको प्राप्त हुए। तू भी मत्सररहित और निष्कपट होकर उनके चरणोंकी आराधना कर।' माताके ऐसे मोह-तम-नाशक वचन सुन बालक ध्रुव यही निश्चयकर माताको प्रणामकर आशीर्वाद ले चल दिये। नारद मुनिने सब जाना तो बड़े विस्मित हुए कि 'अहो! बालककी ऐसी बुद्धि""क्षत्रिय कभी अपमान नहीं सह सकते। पाँच वर्षका बालक! इसको भी सौतेली माँके कटुवचन नहीं भूलते!' नारदजीने इन्हें आकर समझाया-बुझाया कि घर चल, आधा राज्य दिला दें। भगवान्की आराधना क्या खेल है ? योगी-मुनिसे भी पार नहीं लगता। इत्यादि (परीक्षार्थ कहा)। ध्रुवजीने उत्तर दिया कि 'मैं घोर क्षत्रियस्वभावके वश हूँ, सुरुचिके वचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयमें छिद्र हो गया। आपके वचन इसीसे उसमें नहीं ठहरते। यथा—'**अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्रं घोरमुपेयुषः। सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि॥**' (भा० ४। ८। ३६) '*सगलानि*' का प्रसङ्ग यहाँ समाप्त हुआ।

नारदजीने मन्त्र और ध्यान इत्यादि बताया। छः मासहीमें भगवान्ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और ध्रुवजीके गालोंपर शङ्ख छुआया जिससे उनकी जिह्वापर देवसम्बन्धी वाणी प्राप्त हो गयी, उनको अपना और परस्वरूपका ज्ञान हो गया।""घर आनेपर फिर उस सुरुचिने भी इनको प्रणाम किया। भगवान् प्रसन्न होते हैं तो चराचरमात्र प्रसन्न हो जाता है। ध्रुवजीको राज्य मिला और अन्तमें अचल स्थान मिला। ध्रुवतारा इन्हींका लोक है। विनय० पद ८६ भी देखिये।

नोट—२ '*सगलानि*' जपसे छः मासमें ही श्रीहरिने उनको ध्रुवलोक दिया और इस पृथ्वीका छत्तीस हजार वर्ष राज्य दिया तथा यह वर दिया कि नाना प्रकारके भोग भोगकर तू अन्तकालमें मेरा स्मरणकर सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दनीय सप्तर्षियोंके लोकोंसे भी ऊपर मेरे निज धामको जायगा, जहाँसे फिर संसारमें लौटना नहीं होता, यथा—'**ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्। उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः॥**' (भा० ४। ९। २५)

नोट—३ '*अचल अनूपम ठाऊँ*' इति। ध्रुवतारा स्थिर है। सप्तर्षि आदि तारागण उसकी नित्य परिक्रमा करते हैं। कल्पमें भी उसका नाश नहीं होता। अतः अचल कहा। यह तेजोमय है। उसमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र स्थित हैं [भा० ४। ९। २०] परम ज्ञानी सप्तर्षिगण भी उसे न पाकर केवल नीचेसे देखते रहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह, नक्षत्र और तारागण इसकी निरन्तर प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इस पदको उस समयतक और कोई भी न प्राप्त कर सका था, यह विष्णुभगवान् जगद्वन्द्यका परमपद है (भा० ४। १२। २४) यह सब ओर अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है और इसके प्रकाशसे तीनों लोक आलोकित हैं। (भा० ४। १२। ३६) अतः '*अनूपम*' कहा।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ध्रुव' का एक प्रतिबिम्ब दूसरा 'ध्रुव' भी दक्षिण ओर अचल है। इन्हीं दोनोंकी प्रदक्षिणा आकाशमें सब ग्रह-नक्षत्र करते हैं। [सम्भवतः दूसरा ध्रुव आदि वह हैं जो विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे निर्माण किये थे]

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥ ६॥

अर्थ—पवनदेवके पुत्र श्रीहनुमान्‌जीने (भी) इस पवित्र नामको स्मरणकर श्रीरामचन्द्रजीको अपने वशमें कर लिया॥ ६॥

नोट—१ *'सुमिरि पवनसुत'* इति। आपका रामनाम स्मरण बड़ा विलक्षण है। श्रीरामनाम आपका जीवन है, आपके रोम-रोममें श्रीरामनाम अङ्कित ही नहीं, किन्तु श्रीनामकी ध्वनि भी उनमेंसे उठती है। ऐसा आश्चर्यमय स्मरण कि **'न भूतो न भविष्यति'**!!! प्रमाण यथा—**'नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराजराजः। यद्रूपरागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम्॥'** (प्रमोद नाटक) भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका कवित्त २७ भी आपके वैराग्य और नाम-स्मरणका उदाहरण है कि रामनामहीन अत्यन्त अमूल्य पदार्थको भी वे तुच्छ समझ अपने पास भी नहीं रखते—*'राम बिनु काम कौन फोरि मणि दीन्हे डारि, खोलि त्वचा नामही दिखायो बुद्धि हरी है॥'*

नोट—२ *'पवनसुत'* का भाव यह है कि पवित्र करनेवालोंमें 'पवनदेव' सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें उनको गिनाया है। यथा—**'पवनः पवतामस्मि'** (गीता १०। ३१), अर्थात् मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु हूँ। उनके ये पुत्र हैं तब भी उन्होंने श्रीरामनामको ही परम पावन समझकर उसे जपा। यही कारण है कि उन्होंने अनन्य भक्तोंको यही कहकर रामनाम जपनेको कहा है। यथा—**'कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य॥'''''** (श्रीहनुमन्नाटकका यही मङ्गलाचरण है।) *'पावन'* को *'पवनसुत'* और *'नामू'* दोनोंका विशेषण मान सकते हैं। पवनसुत भी पावन और नाम भी पावन; यथायोग्यका सम्बन्ध दिखाया। *'पावन'* विशेषण देकर जनाया कि इन्होंने 'राम' यही नाम जपा। यह सब नामोंमें श्रेष्ठ है जैसा पूर्व दिखाया जा चुका है—*'राम सकल नामन्ह ते अधिका'*। अतः *'पावन'* विशेषण इसीके लिये दिया।

नोट—३ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि—'श्रीहनुमान्‌जीने निष्काम नामको जपा है, इसीसे *'पावन'* कहा। अर्थात् वे स्वयं पवित्र हैं और उन्होंने पवित्र रीतिसे स्मरण किया है। [यदि वे निष्काम न होते तो प्रभु उनके हृदयमें धनुष-बाण धारण किये हुए कभी न बसते। श्रीवचनामृत है कि *'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥'* (३। १६)]

द्विवेदीजी—*'पावन नामू'* इति। 'हजारों नामोंमें यही (राम) नाम सबसे पवित्र है—*'सहस नाम सम सुनि सिव बानी।'* नामके प्रसादसे हनुमान्‌जीने श्रीरामजीको वशमें कर लिया। रामजी रहस्य-विहारके समयमें भी इनको साथ रखते थे। उत्तरकाण्डमें लिखा है कि *'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥'* जिसने जगज्जननी जानकीजीसे आशीर्वाद पाया *'अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥'* (सुं०) और पुत्र कहवाया, वह यदि रामको वश कर रखे तो कुछ चित्र नहीं। ग्रन्थकार भी हनुमत्कृपाहीसे रामदास कहाये। रामजीने मुख्य इन्हींके कहनेसे तुलसीदासको अपना दास बनाया, यह विनय-पत्रिकाके अन्तिम पदसे स्पष्ट है।

टिप्पणी—१ यहाँ गोसाईंजी श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेका उपाय बताते हैं। श्रीरामनामके स्मरणसे वश होते हैं; परन्तु वह स्मरण भी पवनसुतका-सा होना चाहिये। पवन पवित्र, उनके पुत्र पवित्र और नाम पवित्र। *'पावन'* शब्द देकर सूचित करते हैं कि पवित्रतासे स्मरण करे, किसी प्रकारकी कामना न करे। यह भाव *'करि राखे'* पदसे भी टपकता है। *'करि राखे'* का तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्रजीसे कुछ चाहा नहीं, कुछ लिया नहीं; इसीसे वे वशमें हो गये।

नोट—४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'यहाँ पावन शब्द बड़ा सुन्दर और सारगर्भित है। ग्रन्थकारने प्रथम श्रीरामनामकी महिमा बड़ी विलक्षणतापूर्वक कही। पश्चात् अन्य नामोंकी महिमा उदाहरण-संयुक्त कही, यथा—*'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ।'* अब पुनः रामनामका महत्त्व वर्णन करना है। हनुमान्‌जीकी वृत्ति तथा नियम और प्रेमका उदाहरण-समेत। इससे रामनामके साथ *'पावन'* शब्द देकर गम्भीर रहस्यको बतलाया।'

नोट—५ *'अपने बस करि राखे'* इति (क) 'वशमें कर रखा'; यथा—*'दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ।'* (विनय० १००), *'तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों'* (विनय० १६४), *'सांची सेवकाई हनुमान की सुजानराय रिनिया कहाये हौं बिकाने ताके हाथ जू।'* (क० ७। १९) वाल्मीकीयमें भी प्रभुने कहा है कि तुम्हारे एक-एक उपकारके लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, पर शेष उपकारोंके लिये तो मैं तुम्हारा सदा ऋणी ही रहूँगा। तुमने जो-जो उपकार मेरे साथ किये हैं वे सब मेरे शरीरहीमें जीर्ण हो जायँ, यही मैं चाहता हूँ। इनके प्रत्युपकारका अवसर नहीं चाहता, क्योंकि उपकारीका विपत्तिग्रस्त होना ही प्रत्युपकारका समय है, सो मैं नहीं चाहता कि तुमपर कभी विपत्ति पड़े। यथा—**'एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥'** (वाल्मी० ७। ४०। २३-२४) (ख) 'वशमें कर रखा।' कहकर जनाया कि श्रीहनुमान्‌जीमें सन्तोंके वे समस्त गुण हैं जिनसे श्रीरामजी उनके वश होते हैं। श्रीरघुनाथजीने नारदजीसे वे गुण यों कहे हैं। यथा—*'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥ षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥'* (३। ४५। ६-७) से *'हेतु रहित परहित रत सीला'* तक। (ग) देवता अपने मन्त्रके वशमें रहते हैं, यथा—*'मन्त्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।'* (१। २५६) श्री 'राम' यह नाम श्रीरामजीका मन्त्र है, यथा—*'महामंत्र जोइ जपत महेसू।'* इसीसे श्रीरामनामके जपसे श्रीरामजी वशमें हो गये।

अपतु* अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥ ७॥

शब्दार्थ—अपतु=पतित, पापी, यथा—*'पावन किय रावनरिपु तुलसिहुँ से अपत'* (वि० १३०), *'अपत उतार अपकारको अगार जग जाकी छाँह छुए सहमत ब्याध बाधको'* (क० उ० ६८)

अर्थ—अजामिल, गजेन्द्र और गणिका—ऐसे पतित भी भगवान्‌के नामके प्रभावसे मुक्त हो गये॥ ७॥

टिप्पणी—*'अपतु'* इति। उत्तम भक्तोंकी गिनती श्रीशिवजीसे प्रारम्भ की। यथा—*'महामंत्र जोइ जपत महेसू।'* और शिवजीहीपर समाप्त की। यथा—*'सुमिरि पवनसुत पावन नामू।'* श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं, यथा—*'रुद्रदेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान॥ जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भए, हर ते भे हनुमान॥'* (दोहावली १४२-१४३) अर्थात् *'महामंत्र जोइ जपत महेसू'* से *'सुमिरि पवनसुत'* तक उच्च कोटिके भक्तोंको गिनाया, अब पतितोंके नाम देते हैं जो नामसे बने।

'अपत' की गिनती अजामिलसे प्रारम्भ करके अपनेमें समाप्ति की। गोस्वामीजीने अपनी गणना भक्तोंमें नहीं की। यह उनका कार्पण्य है।

नोट—१ *'अजामिल'* इति। इनकी कथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध (६ अ० १, २) में, भक्तिरसबोधिनी टीकामें विस्तारसे है। ये कन्नौजके एक श्रुतसम्पन्न (शास्त्रज्ञ) सुस्वभाव और सदाचारशील तथा क्षमा, दया आदि अनेक शुभगुणोंसे विभूषित ब्राह्मण थे। एक दिन यह पिताका आज्ञाकारी ब्राह्मण जब वनमें फल, फूल, समिधा और कुशा लेने गया, वहाँसे इनको लेकर लौटते समय वनमें एक कामी शूद्रको एक वेश्यासे निर्लज्जतापूर्वक रमण करते देख यह कामके वश हो गया""उसके पीछे इसने पिताकी सब सम्पदा नष्ट कर दी, अपनी सती स्त्री और परिवारको छोड़ उस कुलटाके साथ रहने और जुआ, चोरी इत्यादि कुकर्मोंसे जीवनका निर्वाह

* अपरु—१७०४। जपत—को० रा०। अपत—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

और उस दासीके कुटुम्बका पालन करने लगा। इस दासीसे उसके दस पुत्र थे। अब वह अस्सी वर्षका हो चुका था। (भा० ६। १। ५८—६५, २१—२४) एक साधुमण्डली ग्राममें आयी, कुछ लोगोंने परिहाससे उन्हें बताया कि अजामिल बड़ा सन्तसेवी धर्मात्मा है। वे उसके घर गये तो दासीने उनका आदर-सत्कार किया। उनके दर्शनोंसे इसकी बुद्धि फिर सात्त्विकी हो गयी। सेवापर रीझकर उन्होंने इससे कहा कि जो बालक गर्भमें है उसका नाम 'नारायण' रखना। इस प्रकार सबसे छोटेका नाम 'नारायण' पड़ा। यह पुत्र उसको प्राणोंसे प्यारा था। अन्तकालमें भी उसका चित्त उसी बालकमें लग गया। उसने तीन अत्यन्त भयङ्कर यमदूतोंको हाथोंमें पाश लिये हुए अपने पास आते देख विह्वल हो दूरपर खेलते हुए पुत्रको 'नारायण, नारायण' कहकर पुकारा। तुरन्त नारायण-पार्षदोंने पहुँचकर यमदूतोंके पाशसे उसे छुड़ा दिया। (भा० ६। १। २४—३०) भगवत्-पार्षदों और यमदूतोंमें वाद-विवाद हुआ। उसने पार्षदोंके मुखसे वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित सगुण धर्म सुना। भगवान्‌का माहात्म्य सुननेसे उसमें भक्ति उत्पन्न हुई। (६। २। २४-२५) वह पश्चात्ताप करने लगा और भगवद्भजनमें आरूढ़ हो भगवल्लोकको प्राप्त हुआ। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि पुत्रके मिस भगवन्नाम उच्चारण होनेसे तो पापी भगवद्धामको गया तो जो श्रद्धापूर्वक नामोच्चारण करेंगे उनके मुक्त होनेमें क्या सन्देह है?—*'नाम लियो पूत को पुनीत कियो पातकीस।'* (क० उ० १८), **'म्रियमाणो हरेर्नामगृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥'** (अ० २ श्लो० ४९)

नोट—२ *'गज'*—क्षीरसागरके मध्यमें त्रिकूटाचल है। वहाँ वरुणभगवान्‌का ऋतुमान् नामक बगीचा है और एक सरोवर भी। एक दिन उस वनमें रहनेवाला एक गजेन्द्र हथिनियोंसहित उसमें क्रीड़ा कर रहा था। उसीमें एक बली ग्राह भी रहता था। दैवेच्छासे उस ग्राहने रोषमें भरकर उसका चरण पकड़ लिया। अपनी शक्तिभर गजेन्द्रने जोर लगाया। उसके साथके हाथी और हथिनियोंने भी उसके उद्धारके लिये बहुत उपाय किये पर उसमें समर्थ न हुए। एक हजार वर्षतक गजेन्द्र और ग्राहका परस्पर एक-दूसरेको जलके भीतर और बाहर खींचा-खींची करते बीत गये। अन्ततोगत्वा गजेन्द्रका उत्साह, बल और तेज घटने लगा और उसके प्राणोंके सङ्कटका समय उपस्थित हो गया—उस समय अकस्मात् उसके चित्तमें सबके परम आश्रय हरिकी शरण लेनेकी सूझी और उसने प्रार्थना की—**'यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्। भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥'** (भा० ८। २। ३३) अर्थात् जो कालसर्पसे भयभीत भागते हुए व्यक्तिकी रक्षा करता है, जिसके भयसे मृत्यु भी दौड़ता रहता है, उस शरणके देनेवाले, ईश्वरकी मैं शरण हूँ। यह सोचकर वह अपने पूर्वजन्ममें सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्रका जप करने लगा। यथा—**'जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्।'** (अ० ३। १) स्तुति सुनते ही सर्वदेवमय भगवान् हरि प्रकट हुए। उन्हें देखते ही बड़े कष्टसे अपनी सूँड़में एक कमलपुष्प ले उसे जलके ऊपर उठा भगवान्‌को **'नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते।'** (३। ३२) इस प्रकार ''हे नारायण! हे अखिल गुरो! हे भगवन्! आपको नमस्कार है'' कहकर प्रणाम किया। यह सुनते ही भगवान्, गरुड़को भी मन्दगामी समझ उसपरसे कूद पड़े और तुरन्त ही उसे ग्राहसहित सरोवरसे बाहर निकाल सबके देखते-देखते उन्होंने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़ गजेन्द्रको छुड़ा दिया।

पूर्वजन्ममें यह ग्राह हूहू नामक गन्धर्वश्रेष्ठ था और गजेन्द्र द्रविड़ जातिका इन्द्रद्युम्न नामक पाण्ड्य देशका राजा था। वह मनस्वी राजा एक बार मलयपर्वतपर अपने आश्रममें मौनव्रत धारणकर श्रीहरिकी आराधना कर रहा था। उसी समय दैवयोगसे अगस्त्यजी शिष्योंसहित वहाँ पहुँचे। यह देखकर कि हमारा पूजा-सत्कार आदि कुछ न कर राजा एकान्तमें बैठा हुआ है, उन्होंने उसे शाप दिया कि—'हाथीके समान जडबुद्धि इस मूर्ख राजाने आज ब्राह्मणजातिका तिरस्कार किया है, अतः यह उसी घोर अज्ञानमयी योनिको प्राप्त हो। इसीसे वह राजा गजयोनिको प्राप्त हुआ। भगवान्‌की आराधनाके प्रभावसे उस योनिमें भी उन्हें आत्मस्वरूपकी स्मृति बनी रही।—अब भगवान्‌के स्पर्शसे वह अज्ञानबन्धनसे मुक्त हो भगवान्‌के सारूप्यको

प्राप्त कर भगवान्‌का पार्षद हो गया (भा० ८। ४। १—१३) हूहू गन्धर्वने एक बार देवल ऋषिका जलमें पैर पकड़ा; उसीसे उन्होंने उसको शाप दिया कि तू ग्राहयोनिको प्राप्त हो। भगवान्‌के हाथसे मरकर वह अपने पूर्व रूपको प्राप्त हुआ और स्तुति करके अपने लोकको गया। गजेन्द्रके सङ्गसे उसका भी नाम चला। गजेन्द्रका *'गजेन्द्रमोक्ष'* स्तोत्र प्रसिद्ध ही है। विनयमें भी कहा है—*'तर्‌यो गयंद जाके एक नायँ।'* (भक्तमाल टीकामें श्रीरूपकलाजीने पूर्वजन्मकी और भी एक कथा दी है।)

नोट—३ *'गनिका'* इति। पद्मपुराणमें गणिकाका प्रसङ्ग श्रीरामनामके सम्बन्धमें आया है। सत्ययुगमें एक रघु नामक वैश्यकी जीवन्ती नामकी एक परम सुन्दरी कन्या थी। यह परशु नामक वैश्यकी नवयौवना स्त्री थी। युवावस्थामें ही यह विधवा होकर व्यभिचारमें प्रवृत्त हो गयी। ससुराल और मायका दोनोंसे यह निकाल दी गयी। तब वह किसी दूसरे नगरमें जाकर वेश्या हो गयी। यह वह गणिका है। इसके कोई सन्तान न थी। इसने एक व्याधासे एक बार एक तोतेका बच्चा मोल ले लिया। और उसका पुत्रकी तरह पालन करने लगी। वह उसको 'राम, राम' पढ़ाया करती थी। इस तरह नामोच्चारणसे दोनोंके पाप नष्ट हो गये। यथा—**'रामेति सततं नाम पाठ्यते सुन्दराक्षरम्॥ रामनाम परब्रह्म सर्वदेवाधिकं महत्। समस्तपातकध्वंसि स शुकस्तु सदा पठन्॥ नामोच्चारणमात्रेण तयोश्च शुकवेश्ययोः। विनष्टमभवत्पापं सर्वमेव सुदारुणम्॥'**(पद्म० पु० २७—२९) दोनों साथ-साथ इस प्रकार रामनाम लेते थे। फिर किसी समय वह वेश्या और वह शुक एक ही समय मृत्युको प्राप्त हुए। यमदूत उसको पाशसे बाँधकर ले चले, वैसे ही भगवान्‌के पार्षद पहुँच गये और उन्होंने यमदूतोंसे उसे छुड़ाया। छुड़ानेपर यमदूतोंने मारपीट की। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ। यमदूतोंका सेनापति चण्ड जब युद्धमें गिरा तब सब यमदूत भगे। भगवत्-पार्षदोंने तब जयघोष किया। उधर यमदूतोंने जाकर धर्मराजसे शिकायत की कि महापातकी भी रामनामके केवल रटनेसे भगवान्‌के लोकको चले गये तब आपका प्रभुत्व कहाँ रह गया? इसपर धर्मराजने उनसे कहा—**'दूताः स्मरन्तौ तौ रामरामनामाक्षरद्वयम्। तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः॥ संसारे नास्ति तत्पापं यद्रामस्मरणैरपि। न याति संक्षयं सद्योदृढं शृणुत किङ्कराः॥'**(पद्म पु० ७३-७४)—हे दूतो। वे 'राम, राम' ये दो अक्षर रटते थे, इसलिये वे मुझसे दण्डनीय नहीं हैं। उनके प्रभु श्रीरामजी हैं। संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है जो रामनामसे न विनष्ट हो, यह तुमलोग निश्चय जानो।—वे दोनों श्रीरामनामके प्रभावसे मुक्त हो गये। यथा—**'रामनामप्रभावेण तौ गतौ धाम्नि सत्वरम्॥'** (पद्मपु० क्रियायोगसारखण्ड अ० १५)

एक 'पिङ्गला' नामकी वेश्याका प्रसङ्ग भा० ११। ८ में इस प्रकार है कि एक दिन वह किसी प्रेमीको अपने स्थानमें लानेकी इच्छासे खूब बन-ठनकर अपने घरके द्वारपर खड़ी रही। जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता उसे ही समझती कि बड़ा धन देकर रमण करनेवाला कोई नागरिक आ रहा है, परन्तु जब वह आगे निकल जाता तो सोचती कि अच्छा अब कोई दूसरा बहुत धन देनेवाला आता होगा। इस प्रकार दुराशावश खड़े-खड़े उसे जागते-जागते अर्धरात्रि बीत गयी। धनकी दुराशासे उसका मुख सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया और चिन्ताके कारण होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उसको उत्पन्न हो गया। वह सोचने लगी कि—ओह! इस विदेहनगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा निकली कि अपने समीप ही रमण करनेवाले और नित्य रति और धनके देनेवाले प्रियतमको छोड़कर कामना-पूर्तिमें असमर्थ तथा दुःख, शोक, भय, मोह आदि देनेवाले, अस्थिमय टेढ़े-तिरछे बाँसों और थूनियोंसे बने हुए, त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत, नाशवान् और मल-मूत्रसे भरे हुए, नवद्वारवाले घररूप देहोंको कान्त समझकर सेवन करने लगी। अब मैं सबके सुहृद्, प्रियतम, स्वामी, आत्मा, भवकूपमें पड़े हुए कालसर्पसे ग्रस्त जीवोंके रक्षकके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजीके समान उन्हींके साथ रमण करूँगी। यह सोचकर वह शान्तिपूर्वक जाकर सो रही और भजनकर संसार-सागरसे पार हो गयी। (परन्तु इस कथामें नाम-जप या स्मरणकी बात भागवतमें नहीं और न अवधूतके इस कथाप्रसङ्गमें नामका प्रसङ्ग ही है। सम्भवतः इसीसे आगेका चरित्र न दिया गया हो)

नोट—४ *'भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ'* इति। अभीतक इसके पूर्व यह दिखाया था कि भक्तोंने नाम जपकर उसका प्रभाव जाना। (शिवजी कालकूट पीकर भी अविनाशी हो गये, वाल्मीकिजी और गणेशजीकी अनेकों ब्रह्महत्याएँ मिटीं और एक ब्रह्माके समान भारी महर्षि हुए, दूसरे प्रथम पूज्य हुए। गणेशजीने जाना कि त्रैलोक्य रामहीमें है। पार्वतीजीने सहस्रनाम-समान जाना। शुक-सनकादिने ब्रह्मसुख पा ब्रह्मसमान जाना। प्रह्लादने सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक आदि जाना। ध्रुवजीने इहलोक-परलोक दोनों देनेवाला जाना। नारदजीने जाना कि हरि-हर सब इसीके वश हैं, नामजापक सबका प्रिय हो जाता है इत्यादि।) अब अजामिल आदिके दृष्टान्त देकर दिखाते हैं कि ये महापापी प्राणी नामके प्रभावसे उसके उच्चारणमात्रसे मुक्त हो गये यथा—*'जानि नाम अजानि लीन्हें नरक यमपुर मने।'* (विनय० १६०) जैसे अग्निको जानो या न जानो वह छूनेसे अवश्य जलावेगी वैसे ही होठोंके स्पर्शमात्रसे नाम सर्व शुभाशुभकर्मोंको नष्टकर मुक्ति देगा ही। अजामिल पतितोंकी सीमा था, इसीसे उसका नाम प्रथम दिया। ग्रन्थके अन्तमें भी कहा है कि ये सब नामसे तरे। यथा—*'गनिका अजामिल-व्याध-गीध-गजादि खल तारे घना। आभीर जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूप जे॥ कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते॥'* (७। १३०)

कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥ ८॥

अर्थ—(मैं श्रीरामजीके) नामकी बड़ाई कहाँतक करूँ? श्रीरामजी (भी) (अपने) नामके गुण नहीं कह सकते॥ ८॥

नोट—१ इस प्रकरणमें नामकी विशेषता दिखा रहे हैं। *'रामु न सकहिं नाम गुन गाई'* कहकर नामकी अत्यन्त अपार महिमा दिखायी है। नामके गुण अनन्त हैं तो उनका अन्त कैसे कर सकें ? कथनका तात्पर्य यह है कि ईश्वरकोटिवाले तो कोई कह ही नहीं सकते, रहे श्रीरामजी जो परात्पर ब्रह्म हैं सो वे भी नहीं कह सकते तो भला अल्प बुद्धिवाला मैं क्योंकर कह सकता हूँ ? अतएव कहते हैं कि अब मैं कहाँतक कहता जाऊँ, इसीसे हद है कि स्वयं श्रीरामजी भी नहीं कह सकते।

नोट—२ *'रामु न सकहिं नाम गुन गाई'* इति। क्यों नहीं कह सकते? इस प्रश्नको उठाकर महानुभावोंने अपने विचारानुसार इसके उत्तर यों लिखे हैं—(१) नामके गुण अनन्त हैं। यथा—*'राम नाम कर अमित प्रभावा।'* (१। ४६), *'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥'* (७। ९१) जिसका अन्त ही नहीं, वह कैसे कहा जा सकता है ? यदि यह कहें कि श्रीरामजी कह सकते हैं तो फिर उनके नामके गुणोंके अनन्त होनेमें बट्टा लगता है। अतएव यह बात स्वयं सिद्ध है कि वे भी नामके समस्त गुणोंका कथन नहीं कर सकते। गुणकथन महाप्रलयतक भी नहीं समाप्त हो सकता। प्रमाण, यथा—'**राम एवाभिजानाति रामनाम्नः फलं हृदि। प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मादीनां तु का कथा॥**' (वसिष्ठतन्त्र); '**राम एवाभिजानाति कृत्स्नं नामार्थमद्भुतम्। ईषद्वदामि नामार्थं देवि तस्यानुकम्पया॥**' (महारामायण ५२। ४); '**नाम-सङ्कीर्त्तनं विद्धि अतो नान्यद्वदाम्यहम्। सर्वस्वं रामचन्द्रोऽपि तन्नामानन्तवैभवम्॥**' (तापनीसंहिता) (२) अपने मुख अपने नामकी प्रभुता कहना अयोग्य होगा। श्रीरामजी तो *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं'* तो फिर कहें कैसे ? (३) श्रीरामजी धर्मनीतिके प्रतिपालक हैं। वेद-पुराण कहते हैं कि नामकी महिमा अनन्त है, अतएव आप वेद-मर्यादा न तोड़ेंगे। (४) मानसकारने नामका महत्त्व श्रीरामके लिये अवर्णनीय बताकर अपने प्रयत्नका उपसंहार किया है। बात मनमें आ जानेकी है। भगवन्नाम-जैसा सुलभ, सर्वाधिकारीके लिये उपयुक्त, विधि-निषेध-रहित, अनन्त प्रभाव-सम्पन्न साधनका माहात्म्य कैसे वर्णन किया जा सकता है? सम्पूर्ण विश्व नामरूपात्मक है और उसमें भी नाम व्यापक है। विश्वसे परे परमपद प्राप्त करनेका मार्ग भी नाम है और परमपदस्वरूप भी नाम ही है। नाम साधन, साध्य, उपकरण, आचार्य, चेष्टा और प्राप्य सब कुछ है। नामके महत्त्वका कहीं पार है ही नहीं। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

(५) मयङ्ककार कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी 'अपने नामके रस अर्थात् प्रेमके वश स्वयं मत्त रहते हैं, यद्यपि चाहते हैं कि महत्त्वको कहें किन्तु मत्ततावश नहीं कहा जा सकता।' (६) 'संसारकी रीति है कि कोई यदि भ्रमसे किसी प्रतिष्ठितसे पूछे कि आपका नाम अमुक है? इसपर सच्चा नाम होनेपर भी वह पुरुष सङ्कोचसे उत्तर देता है कि नहीं वह मेरा नाम नहीं है, उस नामकी बड़ी महिमा है, मैं अधम उस नामकी प्रशंसा नहीं कर सकता।' (सु० द्विवेदीजी) (७) यदि श्रीरामजी कहना भी चाहें तो कहें किससे? ऐसा कौन है जो सुनकर, समझे? वक्ता और श्रोता दोनों समशील और समदर्शी होने चाहिये तभी वक्ताका कहा हुआ श्रोता समझ सकता है। नामके गुणोंमें किसी श्रोताकी गति नहीं है, इसीसे प्रभु भी नहीं कह सकते। [वै०] (८) 'राम' शब्द सगुणरूपका वाचक है और उसका जो अर्थ है वह निर्गुणरूपका वाचक है; इससे यह सिद्ध हुआ कि नाममें तो शब्द-अर्थ दोनों भाग रहते हैं। इसलिये नाम दोनोंके जाननेयोग्य है। रूप तो आधे भागका मालिक है, वह दोनों भागका स्वामी जो नाम है उसको कैसे जान सकता है। (रा० प्र०) (९) गोसाइंजी रघुनाथजीकी व्यङ्गस्तुति करके उनको प्रसन्न कर रहे हैं। जैसे कोई किसी राजा वा धनिकसे कहे कि आप तो बड़े कंजूस हैं पर आपके नामका प्रताप ऐसा है कि वनमें भी आपका नाम लें तो सिंह नहीं बोल सकता। वा, आपके नामसे मैं करोड़ों रुपये ला सकता हूँ। यह सुन वह 'कंजूस' कथनके दोषको मनमें किञ्चित् नहीं लाता वरंच प्रसन्न हो जाता है (करु० मिश्रजी) श्रीहनुमान्‌जीने भी ऐसा ही कहा था। (१०) मा० त० वि० कार एक भाव यह भी लिखते हैं कि 'मैं राम नहीं हूँ जो नामके गुण गा सकूँ।' इत्यादि।

नोट—३ यहाँ कुछ लोग शङ्का करते हैं कि वन्दना तो 'राम' नामकी की पर दृष्टान्त अन्य नामोंके भी दिये गये। इनसे श्रीरामनामकी बड़ाई कैसे हुई ? समाधान—सब नाम आपहीके हैं। 'राम' नाम सबका आत्मा और प्रकाशक है [१९ (१-२) में देखिये]; सब नाम पतितपावन हैं और सब 'राम' नामके अंशांश-शक्तिसे प्रकट होते हैं और महाप्रलयमें श्रीरामनाममें ही लीन हो जाते हैं। प्रमाण—'**विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जानाति रामनामतः॥**' (पद्मपुराण)

दोहा—नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भांग ते तुलसी तुलसीदास॥ २६॥

अर्थ—कलियुगमें श्रीरामचन्द्रजीका नाम कल्पवृक्ष और कल्याणका निवास (वास करनेका स्थान) है। जिसके स्मरण करनेसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी हो गये॥ २६॥

नोट—१ '***कलपतरु कलि कल्यान निवास***' इति। (क) कल्पतरुका यह धर्म है कि जो कोई जिस विचारसे उसके नीचे जाय उसका मनोरथ वह पूर्ण कर देता है '**कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते।**' 'नाम' से सभीने अपने-अपने मनोरथ पाये और आजतक पाते चले जाते हैं, इसलिये वस्तुतः कल्पवृक्षका धर्म 'नाम' में है। (मा० प०) (ख) कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म, काम देता और सूर्यकी तपन हरता है। नाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष (भी) देते हैं और त्रिताप हरण करते हैं। यथा—'***रामनाम कामतरु देत फल चारि रे***' (वि० ६७), '***बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन घाम को***' (वि० १५५), '***सुमिरें त्रिबिध घाम हरत***' (वि० २५५), '***जासु नाम त्रयताप नसावन।***' (५। ३९)

नोट—२ '***कलि कल्यान निवास***' इति। (क) भाव यह कि कलियुगमें तो कल्याण अन्यत्र किसी स्थानपर है ही नहीं, केवल 'नाम' रूपी कल्पवृक्षके नीचे ही उसका घर रह गया है। इसमें यह भी ध्वनि है कि और युगोंमें अन्य साधनरूपी वृक्षोंके नीचे भी कल्याणका वास था। यथा—'***पीपर तरु तर ध्यान जो धरई। जाप जग्य पाकर तर करई॥ आँब छाँह कर मानसपूजा। तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा॥ बर तर कह हरिकथा प्रसंगा।***' (उ० ५७) अर्थात् सत्ययुगमें पीपर, त्रेतामें पाकर और द्वापरमें आमके नीचे वास था क्योंकि सत्ययुगमें योग-ध्यान, त्रेतामें जप-यज्ञ और द्वापरमें पूजन मुख्य साधन थे, जिनसे कल्याण

होता था। कलियुगमें कल्याण सब स्थानोंसे भागकर 'नाम' कल्पतरुके नीचे आ बसा है, अन्य किसी उपायसे कल्याण होना असम्भव है, यथा—'*एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रमफलनि फरो सो।*…… *सुख सपनेहु न योग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो॥ काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।*' (वि० १७३) (ख) श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि नाम कल्याणनिवास कल्पवृक्ष है। अन्य युगोंमें तो अनेक प्रकारके यज्ञ, योग, तप अनुष्ठान थे। पुत्र होनेके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ और लक्ष्मीके लिये अनुष्ठान। इस युगमें तो जो इच्छा हो वह नामके द्वारा ही प्राप्त होती है। कुछ भी इच्छा हो नाम उसे पूरा कर देगा।—यदि ऐसी बात है तब तो नामके द्वारा धन, भवनादि पानेका प्रयत्न करना चाहिये? '*कल्यान निवास*' कह रहा है कि ऐसा करना बुद्धिमानी न होगी। नाम स्वर्गके कल्पवृक्षकी भाँति केवल अर्थ, धर्म, काम ही देनेवाला नहीं है। वह तो कल्याण-निवास है। जीवका परम कल्याण करनेवाला है। अतएव उससे तुच्छ भौतिक पदार्थ लेनेकी मूर्खता न करके अपना परम कल्याण ही प्राप्त करना चाहिये। यहाँ नामको कल्पवृक्षसे विशेष मोक्षदाता बताया गया और उससे कल्याण ही प्राप्त करनेका सङ्केत भी किया गया। यहाँ महिमा-वर्णनके पश्चात् उपयोग बताकर गोस्वामीजी उत्तरार्धमें अपने अनुभवकी साक्षी देते हैं। '*पर उपदेस कुसल बहुतेरे*' वाली बात नहीं है। वे कहते हैं कि मैंने स्वयं नाम-जप किया है और करता हूँ। '*सुमिरत*' सूचित करता है कि अभी स्मरण समाप्त नहीं हुआ। उस स्मरणसे प्रत्यक्ष लाभ हुआ है। (ग) बैजनाथजी 'नामरूपी कल्पवृक्षका रूपक' यह लिखते हैं—अयोध्याधाम थाल्हा है, रामरूप मूल है, नाम वृक्ष है, ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रित लीला स्कन्ध है, नाना दिव्य गुण शाखाएँ हैं, शृङ्गारादि आठों रस पत्र हैं, विवेक-वैराग्यादि फूल हैं, ज्ञान फल है, नवधा-प्रेमा-परादि भक्तियाँ रस हैं, श्रीरामानुरागी सन्त प्रेमानुरागरसके भोक्ता हैं। (घ) अभिप्राय-दीपककारके मतानुसार यहाँ यह रूपक है—कलि सूर्य है, कलिके पाप सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें हैं, कल्याण बटोही (यात्री, राह चलनेवाला मुसाफिर) है, जप-तप-योग-ज्ञानादि अनेक साधन वृक्ष हैं जो सूर्यके किरणोंसे झुलस गये उनके नीचे छाया न रह गयी, नाम कल्पतरु है जो अपने प्रभावसे हरा-भरा बना रह गया। अतः कल्याण-बटोहीने उसकी छायाकी शरण ली।

'जो सुमिरत भयो भांग ते तुलसी……' इति।

(१) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि इस दोहेमें यह अभिप्राय गर्भित है कि—(क) जैसे तुलसी चार पदार्थोंकी देनेवाली है, वैसे ही भवरोगहारी और सर्वकामप्रद मैं हो गया। पुनः, (ख) श्रीरामजीको प्रिय हुआ और पावन तथा पूज्य हो गया, यथा—'*रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी।*' (१। ३१)

(२) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'तुलसीदासजी माता-पितासे परित्यक्त एक अधम भाँग ऐसे थे, पर नामके माहात्म्यसे 'तुलसी' वृक्षके ऐसे पवित्र हो गये जिनकी वाणीरूपी पत्रिकासे हजारों पतित पवित्र होते हैं। विनय-पत्रिकाके २७५ पदसे स्पष्ट है कि मूलमें जन्म लेनेसे माताने इन्हें त्याग दिया था।' यथा—'*तनुज तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यों मातु-पिता हूँ। काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग, मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ॥*……' '*नामकी महिमा सीलु नाथ को मेरो भलो, बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ।*' (२७५) '*जननी जनक तजेउ जनमि करम बिनु।*' (वि० २२७)

(३) सू० प्र० मिश्र—'आधे दोहेमें अपने भाग्यकी बड़ाई नामद्वारा निरूपण करते हैं कि जिसको स्मरण करके मैं भाँगसे तुलसी हुआ हूँ। इसका आशय यह है कि भाँग और तुलसीकी मञ्जरी दोनों एक-सी होती हैं, उसपर भी भाँग मादक तथा अपावन है। और यह पावन एवं रोगनाशक है। उसी तरह मेरा रूप तो साधुओंके समान था पर मेरा कर्म मलिन था वह भी नामके प्रभावसे शुद्ध हो गया।' (यह भाव पं० का है)

(४) बैजनाथजी—भंग जहाँ जमती है वह भूमि अपावन मानी जाती है और तुलसी जहाँ जमती है वह भूमि और उसकी मिट्टी भी पावन हो जाती है। वहाँकी मिट्टी भी तुलसीके अभावमें भगवान्‌की सेवामें काम आती है। नामके प्रभावसे तुलसीके समान लोकपूज्य हो गया।

नोट—३ भाँग मद्य अर्थात् मदकारक है और हर प्रकारके मादक द्रव्यमें विषाक्त परमाणु रहते हैं। इसीलिये उनकी मात्रा अत्यधिक हो जानेसे वे मृत्युके कारण हो जाते हैं। उपर्युक्त मादक पदार्थ विशेष भंगके विरुद्ध गुणधर्मवाली औषधि 'तुलसी' है। उसके स्वरसके सेवनसे विषका नाश होता है और मद दूर होता है। अस्तु। गोस्वामीजीकी *'भये भाँग ते तुलसी'* इस उक्तिका भाव यह है कि वे विषयीसे रामभक्त हो गये।

नोट—४ साधारण मनुष्यका विषयलीन जीवन भंगके समान ही होता है। वह स्वयं तो प्रमत्त होता ही है, दूसरोंको भी प्रमत्त बनाता है। पुत्र, स्त्री, मित्र, पड़ोसी सबको प्रेरित करता है कि वे पदार्थोंकी प्राप्तिमें लगें। जो नहीं लगते उन्हें अयोग्य समझता है। विवेकहीन होकर विषयोंमें ही सुख मानता है और अपने संसर्गमें आनेवाले प्रत्येकको यही प्रेरणा देता है। *'तुलसी भयो'* का भाव कि जैसे तुलसीके बिना भगवान्‌की पूजा पूर्ण नहीं होती वैसे ही उनके 'मानस'के बिना श्रीरामजीकी पूजा पूर्ण नहीं होती। सम्पूर्ण लोकमें वे तुलसीके समान आदरणीय हो गये।

'भाँग कहीं तुलसी बन सकती है, यह तो कविकी काव्योक्ति है।' इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिये। गोस्वामीजी पहले कह आये हैं कि नाम-माहात्म्यमें मैं धृष्टता या काव्योक्ति नहीं कर रहा हूँ। यह मेरी 'प्रीति-प्रतीति' है। नाममें प्रेम और विश्वास होनेपर तो नामने महाविषको अमृत बना दिया था, फिर भाँग तो केवल मादकमात्र है। इसीलिये *'जो सुमिरत'* कहा गया और पहले नाममें प्रीति-प्रतीतिकी बात कह ही आये हैं। भगवन्नामके जपका प्रभाव यह हुआ कि स्वयं मत्त एवं दूसरोंको मत्त करनेवाला स्वभाव स्वयं पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन गया। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

नोट—५ यहाँ गोस्वामीजीने अपनेको 'तुलसीवृक्ष' कहा है। सम्भवतः श्रीमधुसूदनसरस्वतीजीने इसीको लेकर प्रसन्न होकर पुस्तकपर यह रूपक लिख दिया—**'आनन्दकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः। कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥'** जिसका अनुवाद काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजीने इस तरह किया है—दोहा—*'तुलसी जंगम तरु लसे, आनँदकानन खेत। कविता जाकी मंजरी, रामभ्रमर रस लेत॥'*

नोट—६ कल्पवृक्षका गुण श्रीरामनाममें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना और रूपक' का सन्देह संकर है। नामके प्रभावसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी हो गये—यहाँ 'प्रथम उल्लास' अलङ्कार है। (वीरकवि)

नोट—७ कुछ टीकाकारोंने इस दोहेका भाव न समझकर *'भाँग'* पाठको बदलकर *'भाग'* रख दिया है, जो अशुद्ध है। यही भाव अन्यत्र भी आया है, यथा—*'केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भए तुलसी तुलसीदास'* (बरवै० ५९), *'तुलसी से खोटे खरे होत ओट नाम ही की तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू॥' 'रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो।'* (क० उ० १९,७२)

नोट—८ इस दोहेमें रामनामके ग्यारह फल दिखाये। नाम ब्रह्म, (१) अविनाशी करते हैं, (२) अमङ्गल हरते हैं, (३) मङ्गल-राशि बनाते हैं, (४) ब्रह्मसुख भोगी बनाते हैं, (५) हरिहरप्रिय करते हैं, (६) भक्तोंमें शिरोमणि बनाते हैं, (७) अचल अनूपम स्थान देते हैं, (८) श्रीरामजीको वशमें कर देते हैं, (९) मुक्ति तथा (१०) अर्थ, धर्म, काम देते और (११) पवित्र कर देते हैं।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥ १॥
बेद-पुरान-संत-मत एहू। सकल-सुकृत फल राम[1] सनेहू॥ २॥
ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत[2] प्रभु पूजें॥ ३॥

१-नामसनेह-(मानस-पत्रिका)। २-परितोषत-१६६१, १७०४, को० रा०। परितोषन-१७२१,१७६२, छ०।

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥ ४॥

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला[1]॥ ५॥

शब्दार्थ—**तिहुँ**=तीनोंमें। **एहू**=यह। **मख**=यज्ञ। **मख बिधि**=क्रिया, यज्ञकी विधि। **परितोषत**=सन्तुष्ट होते हैं, प्रसन्न होते हैं। **पूजें**=पूजनसे। **मल**=पाप। **पयोनिधि**=समुद्र।

अर्थ—चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकोंमें प्राणी नाम जपकर शोक रहित हुए॥ १॥ वेदों, पुराणों और सन्तोंका यही मत है कि समस्त पुण्योंका फल श्रीराम (नाम) में स्नेह होना है॥ २॥ पहले युग (अर्थात् सत्ययुग) में ध्यानसे, दूसरे (त्रेता) युगमें भगवत्-सम्बन्धी यज्ञ-क्रियासे और द्वापरमें पूजनसे प्रभु प्रसन्न होते थे॥ ३॥ परन्तु कलियुग केवल पापकी जड़ और मलिन है। पाप-समुद्रमें प्राणियोंका मन मछली हो रहा है॥ ४॥ ऐसे कठिन कलिकालमें नाम कल्पवृक्ष है। स्मरण करते ही सब जगजालका नाश करनेवाला है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) अब यहाँसे नाम माहात्म्य छठे प्रकारसे कहते हैं। अर्थात् 'काल' के द्वारा नामकी बड़ाई दिखाते हैं। (ख) *'चहुँ जुग'* कहकर तब *'तीनि काल'* भी कहा। भाव यह कि निरन्तर जीव नाम जपकर विशोक होते आये हैं। विशेष दोहा २२ (८) *'चहुँ जुग चहुँ श्रुति……'* में देखिये।

नोट—१ (क) *'तीनि काल'* इति। काल वह सम्बन्धसत्ता है जिसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदिकी प्रतीति होती है और एक घटना दूसरीसे आगे-पीछे आदि समझी जाती है। वैशेषिकमें काल एक नित्य द्रव्य माना गया है। देश और काल वास्तवमें मानसिक अवस्थाएँ हैं। कालके तीन भेद भूत, वर्तमान और भविष्य माने जाते हैं। भूत=जो बीत गया। वर्तमान=जो उपस्थित है, चल रहा है, बीत रहा है। भविष्य=जो आगे आनेवाला है। (ख) *'तिहुँ लोका'* इति। निरुक्तमें तीन लोकोंका उल्लेख मिलता है—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। इनका दूसरा नाम भूः, भुवः, स्वः है, जो महाव्याहृति कहलाते हैं। इनके साथ **महः, जनः, तपः और सत्यम्** मिलकर सप्तव्याहृति कहलाते हैं। इनके नामसे सात लोकों—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—की कल्पना हुई। पीछे इनके साथ सात पाताल—अतल, वितल, सुतल, तलातल, (अग्निपु० और विष्णुपु०में 'गभस्तिमान्') महातल, रसातल, (विष्णुपु०में 'नितल') और पाताल मिलकर चौदह लोक या भुवन माने गये हैं। प्रायः 'लोक' के साथ 'त्रै' और 'भुवन' के साथ 'चौदह' का प्रयोग देखा जाता है। मर्त्य (पृथिवी), स्वर्ग और पाताल भी इन्हीं तीनके नाम हैं। (ग) *'तिहुँ लोका'* का भाव कि केवल पृथ्वीपर ही नहीं किन्तु स्वर्ग और पातालमें भी। असुरोंके प्रबल होनेपर स्वर्गमें भी शोक होता है। तीनों लोकोंमें जीव विशोक हुए। सत्ययुगमें ध्रुव पृथ्वीपर, स्वर्गमें हिरण्यकशिपुसे पीड़ित देवता, पातालमें हिरण्याक्षसे पीड़ित पृथ्वी, इस प्रकार प्रत्येक युगमें, प्रत्येक लोकमें जीवोंके विशोक होनेके उदाहरण शास्त्रमें मिलते हैं। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

'भए नाम जपि जीव बिसोका' इति। शङ्का—भविष्यके लिये *'भए'* क्रिया कैसे संगत है?

समाधान—(१) यहाँ 'भविष्य अलङ्कार' है जिसका लक्षण ही यह है कि भविष्यको वर्तमानमें कह दिया जाय। (२) यह क्रिया अन्तिम शब्द *'तिहुँ लोका'* के विचारसे दी गयी। (३) तीन कालके लिये जब एक क्रियाका प्रयोग हुआ तो भूत और वर्तमान दोके अनुसार क्रिया देनी उचित ही थी। (४) चारों युग पूर्व अमित बार हो चुके हैं, उनमें नाम जपकर लोग विशोक हुए हैं, अतएव यह भी निश्चय जानिये कि आगे भी होंगे—**इति भावः**। जो हो गये उनका हाल लिखा गया और (५) व्याकरणशास्त्रका नियम है कि वर्तमानके समीपमें भूतकालिक अथवा भविष्यकालिक क्रियाओंका प्रयोग किया जा सकता है। यथा—'**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा।**' (अष्टाध्यायी ३। ३। १३७) (६) जब किसी कार्यका होना पूर्ण निश्चित होता है तो उसे हो गया कहते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा—मेरे द्वारा ये सब पहले ही मारे

१-जंजाला—१७२१, १७६२, छ०। जगजाला—१६६१, १७०४।

जा चुके हैं; अर्जुन! तुम केवल निमित्त बनो। यहाँ भी कार्यके होनेकी पूर्ण निश्चयात्मकता ही है। इसी प्रकार यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि आगे भी जो शोकार्त नाम-जप करेंगे, वे शोकहीन निश्चय ही हो जायँगे, अत: वे भी शोकहीन हो गये, ऐसा अभी कहनेमें कोई हानि नहीं। ऊपरके दोहेमें नामको कलिमें कल्याण-निवास कल्पतरु कहा था, अत: नाम केवल कलियुगका साधन नहीं है, इसे तुरन्त स्पष्ट करनेके लिये यहाँ चारों युग, तीनों काल तथा तीनों लोकोंकी बात कही गयी। (श्रीचक्रजी)

'बिसोका' हुए अर्थात् जन्म, जरा, मरण त्रितापादिके शोकसे रहित हो गये।

नोट—२ *'बेद पुरान संत मत एहू।''''राम सनेहू'* इति। 'वेद, पुराण, सन्त' तीनकी साक्षी देनेका भाव कि 'कर्म प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है। अनुमान तथा उपमान भी प्रत्यक्षके ही कर्म अनुगामी होते हैं तथा कर्मफल शास्त्र-प्रमाणसे ही जाने जाते हैं। शास्त्रोंमें परम प्रमाण श्रुति हैं', अत: उनको प्रथम कहा। 'श्रुति प्रमाण होनेपर भी परोक्ष है। **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** इतिहास-पुराणोंके द्वारा वेदार्थ जानना चाहिये। अकेले वेदार्थ जाननेमें भ्रमकी सम्भावना है'! अत: 'पुराण' को कहा। 'पुराण अधिकारी-भेदसे निर्मित हैं, उनमें अनेक प्रकारके अधिकारियोंके लिये साधन हैं। नाम-महिमा पता नहीं किस कोटिके अधिकारीके लिये होगी। भ्रान्तिहीन सत्यका पता तो सर्वज्ञ सन्तोंको ही होता है'। अत: अन्तमें इनको कहा। (ख) वेदका मत है कि सम्पूर्ण पुण्योंका फल राम-नाममें प्रेम होना ही है। क्योंकि **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:'** वह परात्पर तत्त्व साधनसे नहीं मिलता। जिसे वह स्वयं वरण करे उसे ही मिलता है। वह किसे वरण करेगा? सीधा उत्तर है कि जिससे उसका प्रेम होगा। प्रेम उसका किससे होगा? जिसमें उसके प्रति प्रेम होगा। समस्त पुण्य उसीको पानेके लिये किये जाते हैं। पुण्यका उद्देश्य है सुखकी प्राप्ति और दु:खका विनाश। अत: समस्त पुण्योंका फल उससे प्रेम होना ही है। शाश्वत सुखकी प्राप्ति एवं दु:खका आत्यन्तिक विनाश नामसे होता है, अतएव नाममें अनुराग ही पुण्यमात्रका फल है। (श्रीचक्रजी) (ग) तीनोंका मत यही है, यथा—*'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिअ रामपद पंकज नेहा॥ श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥'* (७। १२२)

बैजनाथजी लिखते हैं कि—गुरु-साधु-सेवासे भजनकी रीति प्राप्त कर उसे करते-करते हृदयमें प्रकाश होनेपर जो अनुभवादि होते हैं उसीको 'सन्तमत' कहते हैं। *'सकल सुकृत फल राम सनेहू'*—अर्थात् जप-तप-व्रत-तीर्थ-दान, गुरु-साधु-सेवा, पूजा-पाठ, सन्ध्या-तर्पणादि यावत् कर्मकाण्ड है; विवेक-वैराग्य, शम, दम, उपराम, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुतादि जो ज्ञानकाण्ड है तथा नवधा-प्रेमा-परा भक्ति, षट्-शरणागति इत्यादि जो उपासनाकाण्ड है—इन सब सुकृतोंका फल केवल एक *'रामसनेह'* है। यथा—*'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥ आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥''''सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिज्ञान अखंडित॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥'* (७। ४९)

कोई-कोई पुराणमतका अर्थ 'लोकमत' कहते हैं। यथा—*'प्रगट लोकमत लोकमें, दुतिय बेदमत जान। तृतिय संतमत करत जेहि, हरिजन अधिक प्रमान॥'* इस अर्थका आधार है—वसिष्ठजीका वचन *'करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि।'* (२। २५८) वेदादि सबका यही मत है, यथा—**'सर्वेषां वेदसाराणां रहस्यं ते प्रकाशितम्। एको देवो रामचन्द्रो व्रतमन्यन्न तत्समम्॥'** (पद्मपु०, वै०) 'सकल सुकृतोंका फल' कथनका एक भाव यह भी होता है कि जब समस्त सुकृत एकत्र होते हैं तब कहीं श्रीरामजी और उनके नाममें प्रेम होता है। श्रीरामप्रेम होना अन्तिम पदार्थ है जिसके पानेपर कोई चाह ही नहीं रह जाती। अतएव सब धर्मोंको त्यागकर इसीमें लगना उचित है, इससे सब सुकृतोंका फल प्राप्त हो जायगा।

पं० रामकुमारजी—*'सनेह'* का भाव यह है कि नाम जपनेमें रोमाञ्च हो, अश्रुपात हों, कभी जपमें एक तो विक्षेप पड़े ही नहीं और यदि कदाचित् पड़ जाय तो पश्चात्ताप हो, विह्वलता हो इत्यादि। यथा—*'जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु।'* (विनय० १९३), *'मति रामनाम ही सों, रति रामनाम ही सों, गति रामनाम ही की·····।'* (वि० १८४) *'तुम्हरेइ नाम को भरोसो भव तरिबे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने।'* (क० ७। ७८) *'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥'* (२। ३२६) भरतजीकी श्रीरामप्रेममें यह दशा थी तभी तो भरद्वाजजीने कहा है कि—*'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥'* (२। २०८) और श्रीअवधके सभी लोगोंने भी कहा है—*'रामप्रेम मूरति तनु आही।'* (२। १८४) रामस्नेह क्या है भरतजीकी दशा, रहनी-सहनी, त्याग-वैराग्यादि ही उसका उदाहरण है।

नोट—३ मा० मा० का मत है कि—'एहू'=यह भी। 'एहू' से ज्ञात होता है कि यह मुख्य बात नहीं है। वेदमें दो मत हैं—परमत और लघुमत। ऊपर परमत कह आये—*'ब्रह्म राम ते नाम बड़', 'सकल कामनाहीन जे·····'* और *'राम न सकहिं नाम गुन गाईं।'* इत्यादि। भगवत्प्राप्ति होनेपर भी नाममें रत रहनेसे प्रभु वशमें हो जाते हैं और लघुमत यह है कि—'नामद्वारा प्रेम उत्पन्न होना।' इसी सिद्धान्तसे नवधा भक्तिमें 'विष्णु-स्मरण को तीसरी सीढ़ीमें रखा है।' पर मेरी तुच्छ बुद्धिमें यह आता है कि यह नामका प्रसङ्ग है और यहाँ कहते भी हैं—*'भए नाम जपि जीव बिसोका'*; अतः यहाँ *'राम सनेह'* से श्रीरामनाममें स्नेह ही अभिप्रेत है। नाम-नामीमें अभेद है भी। *'एहू'* शब्द कई ठौर, 'यह, यही,' अर्थमें आया है। यथा—*'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।'* (२। २०८)

वीरकवि—पहले साधारण बात कहकर फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। *'सकल सुकृत·····'* में 'तृतीयतुल्ययोगिता' अलङ्कार है।

नोट—४ *'ध्यान प्रथम जुग·····'* इति। (क) ऐसा ही उत्तरकाण्ड दोहा १०३ में कहा है और श्रीमद्भागवतमें भी; यथा—*'कृतजुग सब जोगी बिज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥ त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं॥ द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥ कलिजुग जोग न जज्ञ न ग्याना।····· नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥'* (७। १०३) '**कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे हरिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।**' (भा० १२। ३। ५२)

बैजनाथजी लिखते हैं कि अब *'राम सनेह'* होनेका उपाय बताते हैं कि सत्ययुगमें रूपके ध्यानसे स्नेह होता था। अर्थात् उस युगमें जीव शुद्ध रहे, सत्त्वगुण होनेसे चित्तकी वृत्ति विषयोंसे विरक्त हो थिर रहती थी, जिससे मन श्रीरामरूपके ध्यानमें लग जाता था, उससे श्रीरामस्नेह होनेपर जीव कृतार्थ होता था। *'मख बिधि दूजे'* अर्थात् त्रेतायुगमें यज्ञविधिसे। यज्ञ पाँच प्रकारका है—देवयज्ञ (अग्निमें हवन करना), पितृयज्ञ (तर्पणादि), भूतयज्ञ (अग्राशनादि), मनुष्ययज्ञ (साधु-ब्राह्मणादिको भोजन देना) और ब्रह्मयज्ञ (सामादि वेदोंकी ऋचा पढ़ना)। त्रेतामें जीवोंमें कुछ रजोगुण भी आ जानेसे, चित्तमें कुछ चञ्चलता आ जानेसे 'रामयशरूप धर्मके आधार' यज्ञद्वारा रामस्नेह होता था। द्वापरमें रजोगुण बहुत हो गया और कुछ तमोगुण भी आ गया, सत्त्वगुण थोड़ा रह गया। इससे अधर्मका प्रचार बढ़ा और विषयसुखकी चाह हुई तब विभवसहित भगवान्का पूजन करके रामस्नेह प्राप्त करते थे जिससे प्रभु प्रसन्न होते थे और जीव कृतार्थ होता था।

नोट—५ सत्ययुगमें मन सात्त्विक होनेसे एकाग्र था। शरीरमें पूर्ण शक्ति थी। अतः उस समयका साधन ध्यान था। त्रेताके आते-आते मनमें अहङ्कार आ जानेसे यशेच्छा उत्पन्न हुई। मन इतना शुद्ध न रह गया कि निरन्तर ध्यान हो सके। संग्रहमें रुचि हो गयी। अतः यशेच्छाको दूर करके निष्काम भावसे भगवान्के लिये यज्ञ करना उस युगका साधन हुआ। द्वापरमें शारीरिक शक्ति भी क्षीण हो गयी। संग्रह पवित्र था पर शरीरमें आसक्ति हो जानेसे संग्रहके प्रति भी आसक्ति हो जानेसे यज्ञके लिये सर्वस्व त्याग सम्भव नहीं था। परलोकके सम्बन्धमें सन्दिग्धभाव होने लगे थे। अतः उस युगका साधन पूजा हुआ। भगवान्के निमित्त संग्रह करके प्रसादरूपसे उसका सेवन विधान बना। कलिके मनुष्यके

सम्बन्धमें कहा जाता है—*'असन्तोष अविरत उद्वेलन, भोली भूलें, सूनी आशा। अर्धतृप्ति उद्दाम वासना मानव जीवन की परिभाषा॥'* अतः ध्यान हो नहीं सकता। अन्यायोपार्जित द्रव्य न यज्ञके कामका न पूजाके। शुद्ध पदार्थ अप्राप्य, श्रद्धा-विश्वास-एकाग्रता स्वप्न हो गये। मन, आचार, शरीर सभी अपवित्र हैं। अतः ऐसे समयको *'कराल'* कहा गया।

टिप्पणी—२ *'कलि केवल मल मूल मलीना।'''''* इति। (क) कलि मलको उत्पन्न करता, आप मलिन है और दूसरोंको मलिन करता है जैसा आगे कहते हैं। (ख) *'केवल'* कहकर सूचित किया कि और युगोंमें और धर्म प्रधान रहे, नामका भी माहात्म्य रहा; परन्तु कलियुगमें और कोई धर्म नहीं है क्योंकि पापीको और धर्मोंमें अधिकार नहीं है, यथा—**'अन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः'**। नाममें पापीका अधिकार है, यथा—*'पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥'* (४। २९) (ग) तीन युगोंके धर्म कहकर तब कलियुगमें नामसे भलाई होना कहा। ऐसा करके जनाया कि चारों युगोंका फल कलियुगमें नामहीसे मिलता है, यथा—*'कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥'* (७। १०२) (घ) पूर्व नामको कल्पतरु कह चुके हैं—*'रामनाम को कल्पतरु०।'* अब फिर कल्पतरु कहते हैं। भाव यह है कि नाम कलिको कल्याणकारक एवं कल्याणका निवास-स्थान कर देते हैं और युगका धर्म ही बदल देते हैं।

नोट—६ *'केवल मल मूल'* कहनेका भाव कि कलियुगमें सत्त्वगुण नहीं रह गया, प्रायः तमोगुण ही रह गया और कुछ रजोगुण है। अतः धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होनेसे प्राणियोंके मन पापमें रत रहते हैं। यथा—*'तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥'* (७। १०४)।

'कलि केवल मल मूल मलीना''''' का अर्थ श्रीकान्तशरणजीने 'कलियुगमें *'केवल'* (नामसे) क्योंकि कलि पापका मूल और मलिन है तथा''''॥ ४॥ ऐसे कठिन कालमें नाम कल्पवृक्ष है''''' ऐसा किया है। फिर इसके विशेषमें वे लिखते हैं कि—'यहाँ कलिके साथ *'केवल'* कहकर उसे उद्देश्यांशमें साकांक्ष ही छोड़ कलिकी करालता कहने लगे। उसे फिर अगली चौ० *'नाम कामतरु'''''* इत्यादिसे खोलेंगे; क्योंकि फिर वहाँ कलिका नाम नहीं है।''''इससे स्पष्ट हुआ कि जब कलिमें केवल नाम ही अभीष्टपूरक है तब अन्य युगोंमें दो-दो साधन थे।'

पं० रूपनारायणमिश्रजी कहते हैं कि—यहाँ इस भावके लिये *'केवल'* शब्दपर जोर देकर खींचा-तानी करके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि स्वयं कविने ही प्रथम *'चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥'* कहकर चारों युगोंमें नामसाधनका होना भी जना दिया है तथा आगे इसी प्रसङ्गमें *'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥'* से सूचित करेंगे कि पूर्व तीन युगोंमें 'कर्म (मख), भक्ति (पूजा), विवेक (ध्यान) और नाम' इनका अवलम्ब था, कलिमें कर्म, भक्ति, विवेक—ये तीन छूट गये, एकमात्र नामका ही अवलम्ब रह गया है। अतः इस भावको कलिमें *'केवल'* (नामसे) यहाँपर लगाना ठीक नहीं, तथापि यदि आग्रह ही हो तो *'कलि केवल'* से *'जगजाला'* तक चार चरणोंका एकत्र अन्वय करके उसमें *'केवल'* शब्दको नामका विशेषण कर देनेसे भी यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। *'केवल'* शब्दको उद्देश्यांशमें साकांक्ष छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः यहाँ ग्रन्थकारका उद्देश्य केवल नामका महत्त्व ही दिखानेका है कि जो कार्य पूर्व तीन युगोंमें ध्यान, मख और पूजासे होता था। वह कलिमें श्रीरामनामके जपसे सिद्ध हो जाता है।

'पाप पयोनिधि जन मन मीना' इति।

(क) जैसे, मछली जलसे अलग होना नहीं चाहती, अगाध जलहीमें सुखी रहती है, जलके घटनेपर वह सङ्कोचयुक्त हो जाती है और जलसे अलग होते ही तड़पने लगती है; वैसे ही कलियुगमें प्राणियोंका मन पाप-समुद्रमें मग्न रहता है, विषयरूपी जलके कम होनेमें, सबकी ममता-मोहके वश होनेके कारण

वह उलटे सोचमें पड़ जाता है, यथा—*'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। तातें सहिअ बिपति अति दारुन जनमत योनि अनेक॥'* (वि० १०२) विषयोंको वह कदापि नहीं छोड़ना चाहता। उनके बिना तड़पने लगता है। पुनः, (ख) जैसे मछलीका चित्त जल छोड़ दूसरी ओर नहीं जाता, वैसे ही इनके चित्तकी वृत्ति पापहीकी ओर रहती है, ध्यान, योग, यज्ञ, पूजन आदिकी ओर उसकी प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। पुनः, (ग) जैसे बड़ा जाल डालकर मछलीको पकड़कर जलसे जबरदस्ती बाहर निकाल लेनेपर वह मर जाती है, वैसे ही यहाँ श्रीनाममहाराज जालरूप होकर मनरूपी मीनको पापसमुद्रके विषयरूपी जलसे खींचकर उसके जग (संसार, भव-जन्म-मरणादि) का नाश करते हैं, मन संसारकी ओरसे मर-सा जाता है, विषयवासना जाती रहती है। पुनः, (घ) भाव यह कि मनके सर्वथा पापमें डूबे रहनेसे ध्यान, यज्ञ और पूजन—इन तीनोंके कामका नहीं। इन तीनोंमें मनकी शुद्धता परम आवश्यक है। अतएव इनमें लगनेसे श्रममात्र ही फल होगा। कलिमें नामका ही एकमात्र अधिकार रह गया है। (ङ) मन पाप-समुद्रमें मछली बन गया है, किन्तु यहाँ भी स्वतन्त्र नहीं है। जप-तपके जालमें उलझा हुआ है। पाप करके भी वह अभीष्ट नहीं प्राप्त कर पाता। संसारकी विकट परिस्थितिमें फँसा हुआ तड़फड़ा रहा है। छुटकारा पानेके लिये जितना प्रयत्न करता है उतना ही उलझता जाता है। नामके स्मरणसे सब परिस्थितियोंकी जटिलता दूर तो होती ही है, साथ ही सभी प्रकारके अभीष्ट पूरे हो जायँगे। इस प्रकार सकामभावसे नाम लेनेसे अनिष्टकी निवृत्ति और अभीष्टकी प्राप्ति ठीक वैसे ही हो जाती है जैसे अन्य युगोंमें अन्य साधनोंसे होती थी, यह कहना अभीष्ट है। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

नोट—७ *'नाम कामतरु काल कराला'.....।'* इति (क) *'काल कराला'* पर दोहा १२ (१) देखिये। उत्तरकाण्डमें कराल कलिकालके धर्म *'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥'* (९७। ८) से *'सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।'* (१०२) तकमें वर्णित है। (ख) *'नाम कामतरु'* इति। तीन युगोंके साधनरूपी वृक्षोंका वर्णन करके अब कराल कलिका साधन कहते हैं। ध्यानादि कोई साधन कलिमें नहीं रह गये। नाम ही एकमात्र साधन है जिसपर कलिका प्रभाव नहीं पड़ता और जो सब कामनाओंको देनेवाला है। विशेष दोहा २६ देखिये। (ग) *'सुमिरत समन'* का भाव कि इसमें किञ्चित् भी परिश्रम नहीं। केवल स्मरणमात्र करना पड़ता है, इतनेहीसे सब जगजाल शान्त हो जाता है, जैसे कल्पवृक्षके तले जानेसे वह सब शोकोंको शान्त कर माँगनेमात्रसे अभिमत देता है। यथा—*'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोचु। मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोचु॥'* (२। २६७) एकमात्र श्रीरामके आश्रित हो जानेसे काम बन जाता है। *'सुमिरत'* से जनाया कि अनायास सब जगजाल दूर हो जाता है। (घ) *'जगजाला'* इति। जाल=समूह, विषम पसारा; जाल। *'जगजाल'* अर्थात् दुःख-सुख, राग-द्वेष, योग-वियोग, स्वर्ग-नरक आदि द्वन्द्व, धन-धाम-धरणी इत्यादि समस्त भवपाश। यथा—*'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लग जग जालू.....।'* (२। ९२) ये सब संसारमें फँसानेवाले 'जाल' हैं जैसे मछुवाहा-धीमर आदि मछलीको जालमें फाँसते हैं वैसे ही ये सब इन्द्रियोंके विषय प्राणियोंके मनको फाँसनेके जाल हैं जो कलिकालरूपी मछवाहेने फैला रखा है। श्रीरामनाम उस जालको काटकर प्राणीको सब प्रकारके संसार-बन्धनोंसे छुड़ा देते हैं। अथवा, तरुके रूपकसे जगजालको त्रयताप कह सकते हैं। तरु छायासे सुख देता है—*'छाँह समन सब सोचु'* वैसे ही नामकामतरु सब त्रयतापरूपी तीक्ष्ण धूपसे सन्तप्त प्राणीको सुख देते हैं।

रामनाम कलि अभिमत दाता। हित पर-लोक लोक पितु माता॥ ६॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥ ७॥

शब्दार्थ—**अभिमत**=मनोरथ, मनोवाञ्छित पदार्थ, अभीष्ट।

अर्थ—कलियुगमें रामनाम मनोरथके देनेवाले हैं, परलोकके लिये हित और इस लोकमें माता-पिता (रूप) हैं॥ ६॥ कलिमें न कर्म है और न भक्ति वा ज्ञान ही, रामनाम ही एक सहारा है॥ ७॥

नोट—१ *'रामनाम कलि अभिमत दाता'* इति। (क) पापपरायण राग-द्वेषादिमें रत मनुष्यके मनोरथ निष्फल जाते हैं। यथा—*'बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के॥'* (६। ९१) और, कलियुगमें सब पापरत रहते हैं तब उनके मनोरथ कैसे सिद्ध हों—यही यहाँ कहते हैं कि *'रामनाम'* कलिके जीवोंको भी अभिमतदाता हैं। किस प्रकार अभिमत देते हैं यह दूसरे चरणमें बताते हैं। (ख) *'हित पर लोक'* अर्थात् जैसे परम हितैषी स्वार्थरहित मित्रके हितमें तत्पर रहता है वैसे ही श्रीरामनाम जनके परलोकको बिना किसी स्वार्थके बनाते हैं। ऐसे परलोकके हित हैं। पुनः, *'हित पर लोक'* कहकर सूचित किया कि कल्पवृक्ष मोक्ष नहीं देता और श्रीरामनाम परलोक (मोक्ष) भी देते हैं, (ग) *'लोक पितु माता'* इति। *'पितु माता'* के समान कहकर जनाया कि बिना वाञ्छा किये अपनी ओरसे देते हैं, माँगना नहीं पड़ता। कामतरु माँगनेपर देता है, यथा—*'माँगत अभिमत पाव जग।'* (२। २६७) पुनः, जैसे माता-पिता बालकका निःस्वार्थ पालन-पोषण करते हैं। बालकपर ममत्व रखते हैं, वैसे ही श्रीरामनामरूपी माता-पिता बालककी तरह जनका हित करते हैं। यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'* (३। ४३) विशेष दोहा २० चौ० २*'लोक लाहु परलोक निबाहू'* में देखिये।

नोट—२ कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और काम देता है, मोक्ष नहीं। फिर याचक यदि अहितकारक वस्तु माँगे तो वह उसे अहितकारक वस्तु भी दे देता है जिससे याचकके मनकी इच्छाकी पूर्तिके साथ ही उसका विनाश भी हो जाता है। सत्ययुग आदिमें तो सत्त्वकी विशेषता होनेसे मनुष्य प्रायः सात्त्विक पदार्थ माँगते थे पर कलि तो *'केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥'* है; अतः आजकल तो लोग प्रायः पापमय वासनाओंकी ही माँग करेंगे। अतः *'राम नाम कलि अभिमत दाता।.....'* इस चौपाईकी प्रवृत्ति हुई। अर्थात् श्रीरामनाम इस युगमें इच्छाओंकी पूर्ति अवश्य करते हैं पर किस तरह ? *'हित पर लोक लोक पितु माता'।* तात्पर्य कि समस्त बुरी-भली इच्छाओंकी पूर्तिकी पूर्ण शक्ति होते हुए भी वह कल्पवृक्षकी तरह अपने जापकको उसके अकल्याणकी वस्तु नहीं देता, वह चाहे जितना रोवे, चिल्लावे। देवर्षि नारदकी कथा इसी ग्रन्थमें ही उदाहरणके लिये है ही। भगवान् कहते हैं—*'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु..... ॥'* (१३२) *'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।'* नारदजीके पूछनेपर श्रीरामजीने कहा है कि *'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'* (३। ४३) वही बात यहाँ नामके सम्बन्धमें कह रहे हैं। श्रीरामनाम-महाराजकी दृष्टि भक्तके *'परम हित'* (परलोक-हित) की ओर विशेष रहती है। पारलौकिक कल्याणमें हानि न पहुँचे यह उद्देश्य दृष्टिमें रखते हुए उसके लौकिक कामनाओंकी पूर्ति की जाती है जहाँतक सम्भव है। इसीसे प्रथम *'हित पर लोक'* कहकर तब *'लोक पितु माता'* कहा। *'लोक पितु माता'* का भाव कि जापककी इच्छाकी पूर्ति उसी प्रकार करते हैं जैसे पिता और माता बच्चोंकी इच्छाओंकी पूर्ति करते हैं। बच्चा यदि रोगमें कुपथ्य माँगता है तो माता-पिता उसे नहीं देते, यथा—*'जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥.....'* (७। ७४) नामको प्रथम पिता कहा; क्योंकि माताकी अपेक्षा पिताका ध्यान पुत्रके भविष्यकी उन्नतिकी ओर विशेष रहता है। फिर माता-रूपसे हित करनेमें भाव यह है कि माताकी तरह नाम-महाराज स्नेहमय हैं, तात्कालिक कष्टके निवारणकी सर्वथा उपेक्षा भी उनमें नहीं है। वे उसके *'परलोक हित'* की रक्षा करते हुए लौकिक हित भी करते हैं। पुनः भाव कि *'हित पर लोक'* के सम्बन्धमें तो नाम *'अभिमत दाता'* हैं अर्थात् परमार्थ सम्बन्धी जो भी कामनाएँ होती हैं नाम उसे उसी रूपमें पूर्ण कर देता है किन्तु 'लोक' (लौकिक कामनाओं) के सम्बन्धमें नाम *'पितु माता'* है। अर्थात् परलोकके हितकी रक्षा करते हुए ही सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति करता है। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

नोट—३ *'नहिं कलि करम'*...... इति। (क) तात्पर्य कि कलिमें मनुष्यके अत्यन्त शक्तिहीन हो जानेसे इनका साधन उससे निबह नहीं सकता, इन सबोंमें उपाधियाँ हैं। *'करम'* (कर्म) शब्दसे क्रियारूप उन सभी कर्मोंकी ओर संकेत है जो आध्यात्मिक उन्नतिके लिये किये जाते हैं। मनके पाप-परायण होनेसे प्राणियोंको इनका अधिकार ही नहीं रह जाता (क्योंकि अपवित्र मनसे जो धर्म होता है वह धर्म नहीं रह जाता)। प्रमाण यथा—*'कर्मजाल कलिकाल कठिन, आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप को भय लोभ मोह कोह काम को॥'* (वि० १५५) **'रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥'**, *'कर्म उपासना कुबासना बिनास्यो, ज्ञान बचन, बिराग, बेष, जगत हरो सो है।'* (क० उ० ८४)

उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार कर्मकाण्डमें धन चाहिये, श्रद्धा चाहिये। कलिमें जिनमें कुछ धर्म है वे निर्धन हैं। मनमें कुवासनाएँ होनेसे, काम-क्रोध-लोभ-मोह होनेसे, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि भी नहीं हो सकते; क्योंकि इनमें मन शुद्ध चाहिये। (ख) 'कर्म शुद्ध नहीं तो क्या ? भगवान् तो भाव देखते हैं। द्रव्य अन्यायोपार्जित और अशुद्ध हो, किन्तु भाव शुद्ध हो तो यज्ञादि किये जा सकते हैं। भाव ही फल देगा।' यह विकल्प ठीक नहीं। कर्मके दो प्रकार हैं। एक क्रियामात्रसे फल देनेवाले, दूसरे भावानुसार फल देनेवाले। जो क्रियारूप कर्म हैं, सर्वज्ञ महर्षियोंने उन क्रियाओंमें शक्तिका ऐसा विधान किया है कि वे विधिपूर्वक हों तो उनसे फल होगा ही। वहाँ भावकी अपेक्षा नहीं है। विधिके अज्ञान, पदार्थदोष, अन्यायोपार्जित पदार्थोंका भावदोष, इन कारणोंसे क्रियारूप कर्म तो इस युगमें शक्य नहीं। रहे भावरूप कर्म, उनके लिये अविचल विश्वास और श्रद्धा चाहिये। भाव मनका धर्म है और आज मनमें अविश्वास, चञ्चलता, मलिनता, सन्देह स्वभावसे भरे हुए हैं। भक्तिके लिये मन निर्मल चाहिये। 'सन्देहयुक्त मनसे किये हुए कर्मोंमें भावदोष होनेसे फलप्रद नहीं होते, किन्तु बुद्धि तो विकारहीन है। ज्ञान बुद्धिका धर्म है। अतः कम-से-कम ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है!' इसपर कहते हैं *'न बिबेकू'* अर्थात् कलिमें सत् असत्का विवेक नहीं रह गया। आजकलकी सत्को असत् और असत्को सत् माननेवाली बुद्धि कैसे तत्त्वका निर्णय करेगी ? दूसरी बात यह है कि बुद्धिका विवेचन जब मनके विपरीत होता है, वह पाखण्ड बन जाता है। वैराग्यादि साधनचतुष्टयसम्पन्नके लिये ही ज्ञान मोक्षप्रद है। आज मनमें वैराग्य नहीं, इन्द्रियोंका संयम नहीं, अतः अपरोक्ष साक्षात्काररूप ज्ञान सम्भव नहीं।

बैजनाथजी कहते हैं कि 'कर्म नहीं हैं' कहनेका भाव यह है कि चारों वर्ण अपने धर्मसे च्युत हो गये। ब्राह्मणके नौ कर्म कहे गये हैं, यथा—**'शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥'** (गीता १८। ४२) इसी तरह क्षत्रियोंके छः और वैश्योंके तीन कर्म कहे गये हैं। यथा—**'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥'**(१८। ४३-४४)—ये कोई कर्म इन चारोंमें नहीं रह गये। यदि कोई सत्कर्म करता भी है तो मान-प्रतिष्ठा, लोकप्रशंसा आदि दुर्वासनासे करता है। उपासना नहीं है, यदि कोई करता है तो मन तो उसका विषय आदिमें रहता है ऊपरसे पूजा-पाठ, तिलक, माला आदिका पाखण्ड। ज्ञान भी वचनमात्र है।

नोट—४ *'राम नाम अवलंबन एकू'* अर्थात् यही एकमात्र उपाय 'श्रीरामजीमें स्नेह और भवतरण' का है। इसमें लगनेसे पाप नाश होते हैं, मन भी शुद्ध हो प्रभुमें लग जाता है और विवेक भी होता है तथा कोई विघ्न नहीं होने पाते। कहा भी है—*'एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे। ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥'* (विनय० ६६)

नोट—५ श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि पूर्व जो *'ध्यान प्रथम जुग'* *'मख बिधि दूजे'* और *'द्वापर परितोषत प्रभु पूजे'* कहा था उसीको यहाँ विवेक, कर्म और भक्ति कहकर निषेध करते हैं। (मा० मा०)

कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥ ८॥

अर्थ—कपटका निधान (स्थान; खजाना) कलि कालनेमि (रूप) है। (उसके नाशके लिये) नाम ही अत्यन्त बुद्धिमान् और समर्थ श्रीहनुमान्‌जी हैं॥ ८॥

नोट—१ '*कालनेमि*' इति। यह रावणका मामा था। बड़ा ही कपटी था। इसने रावणके कहनेसे श्रीहनुमान्‌जीको छलनेके लिये साधुवेष बनाया था। श्रीहनुमान्‌जीने उसके कपटको जान लिया और उसको मारा डाला। कालनेमिका प्रसङ्ग लं० दोहा ५६ (१) से ५७ (७) तक है।

नोट—२ पूर्व कहा कि रामनाम ही एक अवलम्ब रह गया है। उसपर यह शङ्का होती है कि जैसे कलि कर्म, ज्ञान और भक्तिमें बाधक हुआ वैसे ही 'नाम-जापकोंपर भी विघ्न करेगा?', उसपर कहते हैं कि नहीं।

टिप्पणी १—'*कलि कपट निधानू*' इति। (क) कलियुगको कपटी कहनेका भाव यह है कि वह नामके प्रभावको जानता है, इसीसे साक्षात् प्रकटरूपसे विघ्न नहीं कर सकता, कपटसे विघ्न करना चाहता है। जैसे, कालनेमि श्रीहनुमान्‌जीके बलको जानता था। यथा—'***देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकन पारा॥***' (६। ५५)—यह उसने रावणसे कहा है इसीसे साक्षात् प्रकटरूपसे विघ्न न कर सका, कपट करके उसने विघ्न करना चाहा था। यथा—'***अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥ राच्छस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा॥***' (६। ५६) कलि कपटी है। इसने राजा नल और राजा परीक्षित्‌के साथ कपट किया। यथा—'***बीच पाइ एहि नीच बीच ही छरनि छर्‍यो हौं।***' (विनय० २६६) भागवतमें परीक्षित्‌की कथा प्रसिद्ध ही है।

नोट—३ (क) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि—'जैसे कालनेमि ऊपरसे तो मुनि था और भीतर-से तो राक्षस ही था। इसी तरह कलियुग भीतरसे कपटवेष और ऊपरसे युगवेष किये हुए है। (ख) '***कपटनिधान***' का भाव कि कपटी तो सभी राक्षस होते हैं, यथा—'***कामरूप जानहिं सब माया।***' (१८१। १) पर कालनेमि कपटका भण्डार ही था, इसके समान मायावी दूसरा न था। श्रीहनुमान्‌जीको राक्षसी मायासे भ्रममें डाल देना अन्य किसीका सामर्थ्य न था तभी तो रावण कालनेमिके पास ही गया। इसकी शक्ति बड़ी अपूर्व थी। वह हनुमान्‌जीसे पहले ही मार्गमें पहुँचकर माया रच डालता है और उसकी मायाके भ्रममें हनुमान्‌जी पड़ ही तो गये। मकरीके बतानेसे ही वे कालनेमिके कपटको जान पाये। कलिको कपटनिधान कालनेमि कहनेका भाव कि जैसे कालनेमिने साधुवेषद्वारा कपट किया वैसे ही कलियुग धर्मकी आड़में अधर्म करता है—'***मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥***' (७। ९८) कलि दम्भ, कपट और पाखण्डरूपी खजानेसे भरा हुआ है। इसके दम्भ, कपट, पाखण्ड जाल बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको भ्रममें डाल देते हैं।

टिप्पणी २—'***नाम सुमति समरथ हनुमानू***' इति। (क) '***सुमति***' का भाव कि बुद्धिमानीसे उसका कपट भाँप गये। कालनेमिने पहले श्रीरामगुणगान किया। इस तरह उनको वहीं सबेरेतक रोक रखनेका यही उपाय था। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामगुणगान सुनते रहे। पर जब वह अपनी बड़ाई करने लगा कि '***इहाँ भएँ मैं देखउँ भाई। ग्यानदृष्टि बल मोहि अधिकाई॥***' (६। ५६) तब वे ताड़ गये कि यह सन्त नहीं है, क्योंकि सन्त तो '***निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।***' (३। ४६) मुखसे कहना तो बहुत ही असम्भव है। अतः वे पानी-पीनेका बहाना कर चल दिये। जल पीकर लौटे तो लाङ्गूलमें लपेटकर उसे धर पटका, तब उसका कपट-वेष भी प्रकट हो गया। पुनः; (ख) '***सुमति***' विशेषण देकर यह भी सूचित किया कि हनुमान्‌जी तो मकरीके बतलानेपर कि—'***मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन कपि मोरा॥***' (६। ५७) कालनेमिके कपटको जान पाये थे और तब उसे मारा था। परन्तु श्रीरामनाम-महाराजको दूसरेके बतानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कालनेमि गुरु बनकर हनुमान्‌जीको ठगना चाहता था, वैसे ही जब कलि-जापकको ठगनेका कोई उपाय करेगा तभी मारा जायगा।—यहाँ '***सुमति***' में शाब्दी व्यङ्ग्य है कि नामरूपी हनुमान्‌जी 'मतिमान्' हैं, बिना किसीके सुझाये कलिके कपटका नाश करते हैं।

नोट—४ बैजनाथजी रूपककी पूर्ति इस प्रकार करते हैं—श्रीरामजी विवेक और लक्ष्मणजी विचार हैं। मोह-रावणके पुत्र काम-इन्द्रजित्ने असत् वासनारूप शक्तिसे जब विचार लक्ष्मणको घायल किया तब वैराग्यरूप हनुमान् सत्सङ्गरूप द्रोणाचलसे चैतन्यतारूप सञ्जीवनी लेने चले। कालनेमिरूपी कलिने कपट-मिधान मुनि बनकर संसाररूप बागमें गृहसुखरूप मन्दिर इन्द्रियविषयरूप तड़ाग रचकर ज्ञानवार्ता की अर्थात् घरहीमें भजन बनता है, गृहस्थका आसरा त्यागी भी करता है, इत्यादि वार्ता करके वैराग्य—हनुमान्को लुभाया। जब इन्द्रियसुखरूपी जल पीने गये; तब रामनामका अवलम्ब जो वे लिये हुए हैं वही सहायक हुआ, भगवत्-लीला देख पड़ी। कुमतिरूपी मकरी शापोद्धारसे सुमति हुई, उसीने वैराग्यरूप हनुमान्जीको समझा दिया। नामके प्रतापसे, सुमतिके प्रकाशसे वैराग्य-हनुमान्ने कलिका नाश कर दिया।

नोट—५ इस चौपाईका आशय यह है कि हम यदि नामका नियम ले लें तो हमारे लिये कलियुगका नाश हो चुका। 'कलिके दम्भकी प्रवृत्ति वासनात्मक है, बहिर्मुख है। बहिर्मुखताके साथ नाम चल नहीं सकता। अतः यदि हम किसीके द्वारा कभी भ्रममें पड़ेंगे भी तो यदि नाममें दृढ़ रहेंगे तो बहिर्मुखवृत्ति एवं कार्य नष्ट हो जायगा। उसकी पोल खुल जायगी और हम उसे स्वभावतः छोड़ देंगे।' (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

दोहा—रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥ २७॥

शब्दार्थ—**नरकेसरी**=नृसिंहजी। **सुरसाल**=देवताओंको पीड़ित करनेवाला; दैत्य। **दलना**=नाश करना। **कनककसिपु**=हिरण्यकशिपु।

अर्थ—कलिकालरूपी हिरण्यकशिपुके लिये श्रीरामनाम नृसिंह (रूप) हैं, जापकजन प्रह्लादजीके समान हैं, वे (रामनामरूपी नृसिंह) देवताओंको दुःख देनेवाले (कलिरूपी हिरण्यकशिपु) को मारकर (जापकरूपी प्रह्लादका) पालन करेंगे। भाव यह है कि जैसे नृसिंहजीने देवताओंको दुःख देनेवाले हिरण्यकशिपुको मारकर अपने दास प्रह्लादकी रक्षा की थी, वैसे ही इस कराल कलिकालमें श्रीरामनाम कलिकालसे नाम-जापकोंकी रक्षा करते हैं एवं करेंगे॥ २७॥

टिप्पणी १—(क) रामनामका नृकेसरीसे रूपक देकर दिखाया है कि जैसे कनककशिपु सबसे अवध्य था, नृसिंहजीने उसको मारा, इसी तरह कलि सबसे अवध्य है, नाम ही उसका नाश करते हैं। (ख)—'*जापक जन प्रहलाद जिमि*......' इति। '*सुरसाल*' का भाव यह कि जबतक हिरण्यकशिपु देवताओंको दुःख देता रहा तबतक भगवान् प्रकट न हुए। परन्तु, जब प्रह्लादजीको उसने मारना चाहा तब तुरन्त प्रकट हो गये, यथा—'*सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥*' (२। २६५) इसी प्रकार जबतक कलि सद्धर्मोंका नाश करता है तबतक 'नाम' महाराज कलिका कुछ अपकार नहीं करते, परन्तु जब वह जापकको दुःख देता है तब उसका नाश करते हैं।

नोट—१ नृसिंहहीकी उपमा क्यों दी और किसी अवतारकी क्यों न दी? क्योंकि जब हिरण्यकशिपु-ने दासपर विघ्न किया तब प्रभुको अत्यन्त क्रोध हुआ। ऐसा क्रोध अन्य किसी अवतारमें नहीं प्रदर्शित किया गया, इससे इस अवतारकी उपमा दी गयी।

नोट—२ यहाँ '*रामनाम*', '*कलिकाल*' और '*जापकजन*' पर क्रमसे 'नृसिंहजी', 'कनककशिपु' और 'प्रह्लाद' होनेका आरोपण किया गया; पर, '*सुरसाल*' शब्दमें 'सुर' उपमानका उपमेय नहीं प्रगट किया गया कि क्या है? इसमें 'वाचकोपमेयलुप्ता' अलङ्कारसे अर्थ समझना चाहिये। हिरण्यकशिपुसे देवताओंको दुःख और कलियुगमें सद्गुण-सद्धर्मको धक्का पहुँचा, यथा—'*कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।*' (उ० ९७) '*कलि सकोप लोपी सुचाल निज कठिन कुचालि चलाई॥*' (वि० १९५) सद्गुण ही सुर हैं, यथा—'*सदगुन सुरगन अंब अदिति सी।*' (बा० ३१) यहाँ परम्परितरूपक और उदाहरण हैं। '*पालिहि*' भविष्य-कालिक क्रिया देकर जनाया कि जापकजन निश्चिन्त रहें, कलि जब विघ्न करेगा तभी मारा जायगा।

नोट—३ *'कालनेमि कलि'* इस चौपाईमें श्रीरामनामरूपी हनुमान्‌जीद्वारा कलिरूपी कालनेमिका नाश कहा गया। जब उसका नाश हो गया तो फिर दोहेमें दुबारा मारना कैसे कहा ? अर्थात् दो रूपक क्यों दिये गये ? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान यों किया जाता है कि—(१) *'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू'* (१। २७। ७) कहकर जनाया गया था कि कलिने कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंको नाश कर डाला, अब केवल नामहीका एक अवलम्ब रह गया है। इस वाक्यसे यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि 'नाम' को भी नाश कर देगा। इस शङ्काकी निवृत्ति *'कालनेमि कलि कपट निधानू।'*····· ' से की गयी। जैसे हनुमान्‌जीने अपनी सुमति और सामर्थ्यसे कालनेमिको नाश किया वैसे ही श्रीरामनाम-महाराज ऐसे समर्थ हैं कि वे कलिसे अपनी रक्षा सदा किये हैं। श्रीरामनामको चौपाईमें अपनी रक्षाके लिये स्वयं समर्थ होना जनाकर फिर दोहेमें अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये भी समर्थ होना निरूपण किया। भाव यह कि कलि न तो 'नाम' ही का और न 'नाम-जापक' का ही कुछ कर सकता है वा कर सकेगा। पुनः, (२) श्रीरामनाम-महाराजने हनुमान्‌रूपसे कलिका कपट नाश किया और नृसिंहरूपसे उसका पुरुषार्थ नाश किया। दो बातें दिखानेके लिये दो बार कहा। यथा—*'इहाँ कपट कर होइहि भाँडू।'* (२। २१८) *'अब कुचालि करि होइहि हानी।'* (२। २१८) (पं० रामकुमारजी) अथवा, (३) कालनेमि हनुमान्‌जीसे डरता था जैसा उसके *'रामदूत कर मरौं बरु।'* (६। ५५)। इन वचनोंसे स्पष्ट है, वैसे ही कलि रामनामसे डरता है यह चौपाईमें दिखाया। हिरण्यकशिपु नाम-जापक प्रह्लादसे डरता नहीं था किन्तु अपना पुत्र समझकर वह उनको अपनी राहपर लाना चाहता था और न वह भगवान्‌से डरता था; वैसे ही कलिकाल न तो नाम-जापकसे डरता है और न नामसे। वह नाम-जापकको कलिमें उत्पन्न होनेसे अपना पुत्र मानकर जब अपने मार्गपर चलाना चाहता है और जापक अपनेमें दृढ़ है, तब नाम-महाराज अद्भुतरूपसे कलिका नाश कर देते हैं। यह दोहेसे दिखाया। अथवा, (४) दो बार लिखकर जनाया कि कलि चाहे कपट-छलसे विजय चाहे, चाहे सम्मुख लड़कर, दोनों हालतोंमें उसका पराजय ही होगा। हिरण्यकशिपुने सम्मुख लड़कर विजय चाही सो भी मारा गया।

नोट—४ कलियुगके दो रूप हैं। एक तो धर्मकी आड़में अधर्म; इसीको दम्भ या आडम्बर कहते हैं; चाहे साधक स्वयं दम्भ करे, चाहे दूसरेके दम्भसे भ्रान्त हो, ये दोनों दम्भ इसमें आ जाते हैं। दूसरा, प्रत्यक्ष अधर्म। यह रूप पहलेकी अपेक्षा बहुत भयङ्कर है क्योंकि प्रत्यक्ष अधर्ममें पाप करनेमें घृणा, लज्जा या भय नहीं लगता। कलिके प्रथम रूपको कालनेमि और दुर्दमनीय दूसरे रूपको हिरण्यकशिपु बताया गया। कलिके दम्भात्मक रूपमें सच्चे साधकको भ्रान्त करनेका प्रयत्न भी एक सीमातक उनका समर्थन करते हुए ही होता है। उसमें सत्यधर्मके प्रति सम्मानका प्रदर्शन है, उत्पीड़न नहीं है! पर कलियुगके प्रत्यक्ष अधर्मरूपके द्वारा साधक उत्पीड़ित किया जाता है। अधर्मका यह रूप अपने-आपमें सन्तुष्ट नहीं रहता। धर्म या ईश्वरको मानना अपराध बना देना उसका लक्ष्य है। जैसे हिरण्यकशिपु अपनेको ही सर्वोपरि सत्ता मानता था, दैविक सम्पत्तिका शत्रु था, ईश्वर और धर्मको मानना अपराध घोषित कर दिया था वैसे ही कलियुगमें सन्ध्या-वन्दन, वर्णाश्रम-धर्म, पूजा-पाठ और शास्त्र-उपहास एवं अपमानके कारण होते जायेंगे। ईश्वरको भीरु एवं मूर्खसमाजकी कल्पना कहा जाने लगा ही है। आध्यात्मिकताके लिये कोई प्रयत्न करना अशक्य हो जायगा। ऐसी दशामें धार्मिक एवं आस्तिक लोग क्या करें ? गोस्वामीजी इसका उत्तर इस दोहेमें देते हैं। सबपर प्रतिबन्ध लग सकता है, किन्तु आपकी वाणी आपकी ही रहेगी। जोरसे न सही, मनमें तो आप नाम सदा ले सकेंगे। नाम ही रक्षाका एकमात्र साधन है। नाम-जापक भी सताये जा सकते हैं, परन्तु जब ऐसा होगा, अधर्म स्वतः नष्ट हो जायगा। अनैतिक उत्पीड़नसे भी यही रक्षा कर लेता है। (श्रीचक्रजी)

नोट—५ श्रीजानकीशरणजीने कलिकालके रूपकका विस्तार इस प्रकार किया है कि—'हिरण्यकशिपुने वर माँगा था कि मैं न नरसे मरूँ, न देवसे, न भीतर, न बाहर, न दिनमें, न रातमें, न पृथ्वीपर, न आकाशमें, न पशुसे, न पक्षीसे। वैसे ही कलिने भगवान्‌से वर माँगा कि मैं न कर्म-धर्म करनेवालोंसे

(रजोगुणी वा सतोगुणीसे) मरूँ, न गृहस्थसे, न तपस्वीसे, न अविद्यासे, न विद्यासे, न पापसे, न पुण्यसे, न मूर्खसे, न साक्षरसे और जैसे हिरण्यकशिपुने माँगा था कि मेरा एक रक्त-बूँद गिरे तो सहस्रों हिरण्यकशिपु पैदा हो जायँ वैसे ही कलिने माँगा कि 'यदि कोई ज्ञान-वैराग्यादि बाणोंसे मुझे छेदन करे तो मेरा तेज और अधिक हो जाय।' जापकके जिह्वारूपी खम्भसे नाम-नृसिंह निकलकर कलिका नाश करेंगे। रकार सिंह और मकार नरवत् हैं।' (मा० मा०) कलिको जापकपर क्रोधका कारण यह है कि द्वापरमें जन्मे हुए राजा नल, युधिष्ठिर महाराज और राजा परीक्षित् भी मेरी आज्ञापर चले—जूआ खेले, घोड़ेपर चढ़े, फलके बहाने माँस खाया, मुनिके गलेमें मरा सर्प डाला; और यह जापक मेरे ही राज्यमें जन्म लेकर मेरी आज्ञाके विरुद्ध चलता है! (अ० दी० च०)

नोट—६ *'कालनेमि कलि०'* में पहले कालनेमि कलिको रखा तब 'हनुमान्‌जीको' और दोहेमें प्रथम *'नरकेसरी'* को तब *'कनककसिपु कलिकाल'* को अर्थात् एकमें मारनेवालेको पहले और दूसरेमें पीछे कहा गया है। शब्दोंका यह हेर-फेर भी भावसे खाली नहीं है। (१)—*'कालनेमि······'* में यह दिखाया है कि नाम-महाराज अपनी रक्षामें इतने निश्चिन्त वा असावधान (लापरवाह) हैं कि कालनेमि कलियुगको देख रहे हैं फिर भी उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, उसकी परवा नहीं करते और दोहेमें यह बताते हैं कि अपने 'जापक-जनकी रक्षामें' प्रथमसे ही तैयार रहते हैं। पुनः, (२) चौपाईमें बताया कि श्रीहनुमान्‌जीने यह जानकर भी कि यह राक्षस है, साधु बनकर ठगना चाहता था तो भी उन्होंने उसपर रोष नहीं किया। वैसे ही श्रीरामनाम-महाराज अपने ऊपर अपराध करनेपर भी रोष नहीं करते। और दोहेमें बताते हैं कि यदि कोई जापकजनका अपराध करे तो वे उसे नहीं सह सकते, उसके लिये नृसिंहरूपसे सदा तैयार रहते हैं। यथा—**'*सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ लोकहु बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥*'** (२। २१८)

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ १॥

अर्थ—भाव, कुभाय (खोटे भाव, अप्रीति), क्रोध या आलस्य (किसी भी प्रकार) से नाम जपनेसे दसों दिशाओंमें मङ्गल ही होता है॥ १॥

नोट—१ *'भाय कुभाय अनख······'* इति। (क) बैजनाथजीका मत है कि—'**भाय**=भाव। जैसे कि शेष-शेषी, पिता-पुत्र, भार्या-स्वामी, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, रक्ष्य-रक्षक इत्यादि भाव। यह मित्रपक्ष है। **कुभाय**=कुत्सित-भाव। जैसे कि अनरस जिसमें स्वाभाविक विरोध है, ईर्ष्या-भाव (जो बढ़ती न सह सके), असूया-भाव (जो गुणमें दोष आरोप करे), वैरभाव—इत्यादि जो शत्रुपक्षके भाव हैं। *'अनख'* अर्थात् जो प्रीति—विरोधरहित है पर किसी कारणसे रुष्ट हो गया। *'आलस'* जैसे शोकमें या श्रमित होनेपर सुध आ जाना, नाम निकल पड़ना—ये उदासीनपक्षमें हैं।'

(ख) मिलान कीजिये—'**साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥**' (भा० ६। २। १४) अर्थात् सङ्केतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूर्ण करनेके लिये अथवा अवहेलनासे भी लिया हुआ भगवन्नाम मनुष्यके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है, इसे महात्मालोग जानते हैं। इसमें *'हेलनम्'* का भाव *'कुभाव'* से समझा जा सकता है।

(ग) विजय दोहावलीमें इनके उदाहरण ये दिये हैं—*'भाव सहित शंकर जप्यो कहि कुभाव मुनि बाल। कुम्भकरण आलस जपेउ अनख जपेउ दशभाल॥'* मानसमें इसके प्रमाण, यथा—*'सादर जपहु अनँग आराती।'* (१। १०८) *'भएउ सुद्ध करि उलटा जापू।'* (१। १९) *'राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक।'* (६। ६२) और *'कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥'* (६। १०२)

(घ) '**कु**' शब्दके—पापबोधक, कुत्सा (बुरा), ईषदर्थ (थोड़ा) और निवारण—ये चार अर्थ, हैमकोशमें मिलते हैं। यथा—'**कुपापीयसि कुत्सायामीषदर्थे निवारणे।**' *'कुभाव'* में इन चारोंका ग्रहण हो सकता है। **कुभाव**=पापभावसे, बुरे भावसे, किञ्चित् भावसे तथा 'अभाव' से।

☞इस तरह हम '*भाय कुभाय*' के तात्पर्य यह निकाल सकते हैं कि—'*भाय* (भाव)' से शुद्ध निष्काम प्रेम और श्रद्धा-विश्वासादि सात्त्विक-भावका ग्रहण होगा। इस व्याख्यासे आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी और प्रेमी सभी भक्तोंका समावेश '*भाय*' में आ जाता है। '*कुभाय*' से पूर्वोक्त शुद्ध निष्काम या सात्त्विक तथा तामसी भावोंके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं उन सबोंका ग्रहण होगा। इसमें सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा आदिके लिये होनेवाले राजस तपको ले सकते हैं। यथा—'**सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥**' (गीता १७। १८) विनोद, नामाभास, अनुवाद आदि भी '*कुभाय*' में ही लिये जायँगे। अनख और आलस्य तामस वृत्तियाँ हैं, अतएव क्रोध, ईर्ष्या, आलस्य, निद्रा आदि सब इनमें आयँगे।

☞नव दोहोंमें नामका माहात्म्य कहकर अब सबका सारांश यहाँ अन्तमें लिखते हैं। चाहे कोई प्रेमपूर्वक मन और वचनकी एकतासे एवं उसके अर्थ और महत्त्वको समझते हुए नामका जप करे अथवा, अनादर और असूयापूर्वक निन्दाके मिष उसका उच्चारण करे किंवा आलस्यवश अँगड़ाई लेते हुए विश्रामभावविशिष्ट नामका जप करे, वह कल्याण—लाभ अवश्य करेगा, प्रत्येक देश-कालमें वह मङ्गल फल प्राप्त करेगा। इसमें सन्देह नहीं।

नोट—२ श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि '*कुभाय*' का अर्थ है—निन्दाके लिये, हेय बतानेके लिये, घृणा प्रदर्शनके लिये, दम्भसे किसीको ठगनेके लिये लिया गया नाम। 'क्या राम-राम बकते हो, क्या रखा है इसमें ? राम एक आदर्श राजा अवश्य थे, पर उनका नाम रटना व्यर्थ है!' इस प्रकार हेय बतानेके लिये भी नाम लिया जाता है। 'राम-राम कहनेवाले सब धूर्त या मूर्ख होते हैं!' इस प्रकार निन्दाके लिये भी नाम लिया जाता है। 'राम! राम! छि:!'—घृणाप्रदर्शन भी नामद्वारा होता है। दूसरोंको पुकारनेमें यदि उनका नाम राम हो तथा परस्पर अभिवादनमें जो 'जय रामजी' या 'राम-राम' किया जाता है उसमें कुभाव तो नहीं है; किन्तु भगवन्नाम-बुद्धि नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक रीतिसे भावहीन या दुर्भावपूर्वक नामोच्चारण भी मङ्गलप्रद है।' छींकते, खाँसते, गिरते, चौंकते, डरकर चोट लगनेपर नाम लेना भी 'आलस्य' में ही है, क्योंकि जान-बूझकर सावधानीसे नाम नहीं लिया गया।

'*दिसि दसहूँ*' इति। इसका एक अर्थ तो यह है ही कि नाम सभी स्थानोंमें सर्वत्र मङ्गलप्रद है। दूसरा भाव यह है कि दूसरे सभी साधन एवं पुण्य कार्य केवल मर्त्यलोकमें मनुष्ययोनिमें किये जानेपर मङ्गलप्रद होते हैं। दूसरी योनियोंमें तथा दूसरे लोकोंमें किये गये कर्म मङ्गलप्रद नहीं होते। क्योंकि मनुष्येतर सभी योनियाँ भोगयोनि हैं और मर्त्यलोकको छोड़ सभी लोक भोगलोक हैं। भोगयोनियों तथा भोगलोकोंके कर्म फलोत्पादक नहीं होते। परन्तु नामोच्चारण सभी योनियों और सभी लोकोंमें कल्याणकारी होगा, व्यर्थ नहीं जायगा, वहाँके नियम उसे बाधित नहीं करते।

भाव, कुभाव आदिसे नाम जपनेवालेका मङ्गल होगा, यह बात कठिनतासे समझमें आनेकी है। बात यह है कि कर्ममात्र अपना फल भावके आधारपर ही देते हैं। भावके द्वारा ही कर्मसंस्कार बनते हैं और वहीं संस्कार फल उत्पन्न करते हैं। यह नियम है। केवल मनुष्य ही स्वतन्त्र भाव कर सकता है। दूसरे सभी देव, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट—प्रकृतिसे नैसर्गिक स्वभावसे सञ्चालित होते हैं। अत: उनके कर्मोंमें भाव स्वातन्त्र्य न होनेसे कर्मसंस्कार नहीं बनते। ऐसी दशामें नामोच्चारणका फल सर्वत्र कैसे हो सकता है? वह केवल मनुष्ययोनिमें और भावके अनुसार होना चाहिये। दुर्भाव आदिसे लिया गया नाम मङ्गलप्रद कैसे हो सकेगा?

ये तर्क इसलिये उठते हैं कि नामको 'भावरूप कर्म' समझ लिया गया है। वस्तुत: नाम भावरूप कर्म न होकर पदार्थरूप है। सत्य, अहिंसा, दान, चोरी इत्यादि भावरूप कर्म हैं। अतएव इनके करनेमें भावानुसार पाप-पुण्य होता है। बच्चे, पागल, निद्रितके द्वारा ये कर्म हों तो उनका कोई फल नहीं होता। इसी प्रकार भोगयोनियोंके जीव सिंहादि हिंसा करनेपर भी उसके पापके भागी नहीं होते।

अग्निका स्पर्श—यह वस्तुरूप पदार्थात्मक कर्म है। इसके परिणामके प्रकट होनेमें भावकी अपेक्षा नहीं है। अग्निका स्पर्श श्रद्धा, अश्रद्धा, घृणा, द्वेष या आलस्यसे, जानकर या अनजानमें करें, परिणाम एक ही है। चाहे बच्चा हो, पागल हो तो भी अग्नि उसे जलावेगा ही। वहाँ स्पर्शरूप कर्मका एक ही फल सभी भाववालोंको होगा। भगवन्नाम अपने नामीका स्वरूप है, वह भाव नहीं है, सत्य है। वह सच्चिदानन्द-स्वरूप है, परमतत्त्व है। अतएव उसका संसर्ग 'भावरूप कर्म' न होकर वस्तुरूप कर्म है। वस्तुरूप कर्म भावकी अपेक्षा नहीं करता, अतः वह कर्ममात्रसे फल प्रकट करता है। इसीसे नाम **'जपत'** जपकी क्रिया होते ही मङ्गल होता है। क्योंकि भगवान् सर्वव्यापी हैं अतः उनका स्वरूप नाम भी सर्वव्यापी है। वह उच्चारणमात्रसे कल्याणकारी है। जैसे अग्निका स्वाभाविक गुण दाह है वैसे ही नामका स्वाभाविक गुण मङ्गल करना है।

नाम-वन्दनाका उपसंहार करते हुए गोस्वामीजीने यहाँ जपके अधिकारीकी सूचना दी है कि ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त सभी प्राणी जपके अधिकारी हैं। भावकी यहाँ अपेक्षा नहीं। अभ्यासके द्वारा नामको स्वभाव बना लेना चाहिये जिसमें सभी स्थितियोंमें नाम ही निकले।

नोट—३ ***'दिसि दसहूँ'*** का भाव यह है कि नाम-जापक सबसे निर्भय रहता है। प्रह्लादजी इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। सुश्रुतसंहितामें भी ऐसा ही कहा है—**'तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा स्मरामि॥'**

इसका भाव यह भी निकलता है कि श्रीअयोध्या, मथुरा इत्यादि पुरियों और प्रयागराज आदि तीर्थों तथा पर्वत आदि सप्त स्थानोंका कोई भेद यहाँ नहीं है; किन्तु सर्वत्र ही, जहाँ रहे तहाँ ही मङ्गल होगा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'दसों दिशाओं' को कहनेका भाव यह है कि मन्त्र-जापके सम्बन्धमें तन्त्रोंमें दसों दिशाओंका संशोधन करके तब बैठकर जप करना कहा है, अन्यथा सिद्धि नहीं होती। अतः ***'मंगल दिसि दसहूँ'*** कहकर जनाया कि श्रीरामनाममें बिना संशोधन ही फलकी प्राप्ति होती है।

दसों दिशाएँ ये हैं—पूर्व, आग्नेयी (पूर्व-दक्षिणके बीच), दक्षिण, नैर्ऋती (दक्षिण-पश्चिमके बीच), पश्चिम, वायवी (पश्चिम-उत्तरका मध्य), उत्तर, ऐशानी (उत्तर-पूर्वका मध्य), उर्ध्व (ऊपर), अधर (नीचे)।

वराहपुराणमें इनकी उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—**'ब्रह्मणस्सृजतस्सृष्टिमादिसर्गे समुत्थिते।'..... प्रादुर्बभूवुः श्रोत्रेभ्यो दशकन्या महाप्रभाः॥ पूर्वा च दक्षिणा चैव प्रतीची चोत्तरा तथा। ऊर्ध्वाधरा च षण्मुख्याः कन्या ह्यासंस्तदा नृप॥ तासां मध्ये चतस्रस्तु कन्याः परमशोभनाः॥'** (अ० २९। ३-४)

नोट—४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'नवों दोहोंके लिखनेपर यह चौपाई लिखनेका भाव यह है कि गोस्वामीजीने वैद्यवत् जीवरूपी भवरोगग्रसितको नामरूपी भेषज खानेको बतलाया। नवों दोहोंके अन्दर नाम जपनेकी रीति, संयम आदि विस्तारपूर्वक वर्णन किये। उसके अनुकूल नामस्मरण करनेसे सारे भवरोगोंका नाश हो जायगा और वह भगवत्-प्राप्तिरूपी आनन्दमें मग्न रहेगा। पर जो रोगी मरणासन्न हो रहा है, संयम करता ही नहीं, अपना हठ नहीं छोड़ता, उसकी दशा देखकर परम कृपालु वैद्य उसको भी यही दवा देकर कहता है कि यह अपूर्व गुणदायक है, इसको खाते रहना, मुखमें जानेसे रोगका नाश अवश्य करेगा। हाँ, भेद इतना है कि मेरे वचनोंपर विश्वास करके भाव (=विधि) के साथ खाते तो शीघ्र नीरोग हो जाते। अच्छा कुभावसे ही सही, खाते जाना, मङ्गल ही होगा।' (मा० मा०)

नोट—५ नामवन्दना सबकी वन्दनासे विशेष की गयी, नौ दोहोंमें यह प्रकरण लिखा गया, यह क्यों? उत्तर—(१) अङ्कका प्रमाण '९' ही तक है, उसके पश्चात् शून्य (०) है। नवों दोहोंमें इस प्रकरणको समाप्त करके सूचित किया है कि श्रीरामनाम साधन ही सम्पूर्ण कल्याणोंकी सीमा है, इसे छोड़ अन्य साधनोंसे कल्याणकी आशा रखनी व्यर्थ है। यथा—*'तुलसी अपने रामको भजन करहु निःशंक। आदि अंत निरबाहि हैं जैसे नवको अंक॥'* (सतसई) *'राम नामको अंक है, सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून', 'रामनाम छाँड़ि जो भरोसो करे और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे॥'* (वि० ६६)

(२) लोक-परलोक दोनोंके लिये कलिमें दूसरा उपाय नहीं है, अतएव सबके कल्याणार्थ विस्तारसे कहा। (३) श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामनामहीके उपासक हैं, अपना मत भी उन्होंने इसी प्रकरणमें दरसाया है, यथा—*'मोरे मत बड़ नाम दुहूँ तें।'* (२३) अपना मुख्य सिद्धान्त एवं इष्ट 'नाम' ही होनेके कारण अपने उपास्यको इतने दोहोंमें वर्णन किया है। उपास्यके प्रमाण, यथा—*'रामनाम मातु पितु स्वामी समरत्थ हित, आस राम नामकी भरोसो रामनामको। प्रेम रामनाम ही सों नेम रामनामहीको जानउँ न मरम पद दाहिनो न बामको। स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम, रामनामहीन तुलसी न काहू कामको। राम की सपथ सरबस मेरें रामनाम, कामधेनु कामतरु मोसे छीन छामको॥'* (क० उ० १७८), *'रावरी सपथ रामनाम ही की गति मेरें, यहाँ झूठो झूठो सो तिलोक तिहूँ काल है।'* (क० उ० ६५), *'मेरे माय बाप दोउ आखर हौं शिशु अरनि अरयों। संकरसाखि जो राखि कहउँ कछु तो जरि जीह गरो। अपनो भलो रामनामहिते तुलसिहि समुझि परो।'* (वि० २२६), *'नाम-अवलंबु अंबु-मीन दीन राउ सो। प्रभुसों बनाइ कहउ जीह जरि जाउ सो।'* (वि० १८२), *'रामनाम ही की गति जैसे जल मीनको।'* (वि० ६८), *'और ठौर न और गति अवलंब नामु बिहाइ', 'मोको गति दूसरी न बिधि निरमई'* इत्यादि।

नोट—६ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि नामवन्दना-स्थूल-प्रकरणके अवान्तर सूक्ष्म सत प्रकरण हैं, यथा—*'नाम वंदना सात बिहार। प्रथम स्वरूप अंग अरु फल कहि, दूजे जुग अक्षर निस्तार। तीजे नामी नाम सरिस कहि, चौथे भक्तनको आधार। पाँचव अगुन सगुन ते बड़ कहि; छठवें फल उद्धार। सतयें चारिउ जुग नामहि को जानकीदास निहार।'* (मा० प्र०)

श्रीरामनाम-वन्दना प्रकरण समाप्त हुआ।

निज कार्पण्य तथा श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण

सुमिरि सो नाम रामगुन गाथा। करौं नाइ रघुनाथहि माथा॥ २॥

अर्थ—उस श्रीरामनामको सुमिरकर और श्रीरघुनाथजीको माथा नवाकर मैं उन श्रीरामजीके गुणोंकी कथा रचता हूँ॥ २॥

नोट—१ (क) *'भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'* (२८। १) तक नाम-की बड़ाई की। अब यहाँसे दो दोहोंमें रूपकी बड़ाई करते हैं। यहाँसे लेकर—*'एहि बिधि निज गुन दोष कहि……।'* (२९) तक ग्रन्थकार अपना कार्पण्य और स्वामीके गुण वर्णन करते हैं। (ख) नामका स्मरण किया जाता है और रूपके सामने मस्तक नवाया जाता ही है, अतः *'सुमिरि नाम'* और *'नाइ रघुनाथहि माथा'* लिखा।

टिप्पणी—पहले श्रीरामनामकी वन्दना की। वन्दनासे नमस्कार-स्तुति हो चुकी, यथा—**'वदि अभिवादन स्तुत्योः'** (सि० कौमुदी ११)। अब स्मरण करते हैं। ये गुणगाथा श्रीरघुनाथजीके हैं और श्रीरामनामसे अङ्कित हैं, यथा—*'एहि महँ रघुपति नाम उदारा', 'राम नाम जस अंकित जानी।'* (१। १०) इसलिये श्रीरामनामको सुमिरके श्रीरघुनाथजीको माथा नवाके उनकी गुणगाथा रचते हैं।

नोट—२ (क) अब ग्रन्थकार दिखलाते हैं कि पूर्वोक्त नामके स्मरणके ही प्रभावसे मैं श्रीरामचरित्र लिखता हूँ और कोई दूसरा भरोसा मुझे नहीं है। इससे सूचित हुआ कि ग्रन्थकार श्रीरामनामके अनन्य भक्त थे। (मा० प०) (ख) यहाँ गोस्वामीजी अपनी अनन्यता दिखाते हैं कि जिस नामसे सर्वदेश-कालमें मङ्गल होता है। अब तो मैं उसी नामको स्मरणकर उसके नामी (श्रीरामजी) होके गुणोंकी गाथा अनन्य भावसे उन्हें प्रणाम करके करता हूँ। (पं० शुकदेवलाल) (ग) यहाँ नामको साधन और चरित्रको सिद्ध फल जनाया। (रा० प्र०) (घ) बैजनाथजी लिखते हैं—यहाँ दिखाते हैं कि मन, कर्म और वचनसे मुझे प्रभुहीकी गति है। प्रभुने जो कहा है कि—*'बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम। तिन्हके हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥'* (३। १६) इसी रीतिको कवि यहाँ दृढ़ कर रहे हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंको वशमें करके मनद्वारा नाम-स्मरण करते हैं, पञ्चकर्मेन्द्रियोंके विषयोंको रोककर शीशद्वारा वन्दन करते हैं और वचनद्वारा गुणगाथा वर्णन करते हैं।

नोट—३ *'सुमिरि सो नाम……'* इति। गौड़जीकी टिप्पणी *'बन्दउँ नाम राम रघुबर को।'* (१९। १) में देखिये। *'बन्दउँ नाम राम रघुबर को'* में *'रघुबर'* के रामनामकी वन्दना करते हुए परात्परके रामनामसे उसकी एकता दिखायी है और रामावतारसे उसकी महिमाकी तुलना की है। *'सुमिरि सो नाम……'*—*'सो'* कौन? वही *'रघुबर को'* नाम। फिर *'रामगुनगाथा'* करता हूँ, उन्हीं *'रघुनाथ'* की वन्दना करके। *'रघुनाथ'* और *'रघुबर'* शब्दोंपर काफी जोर दिया है। लोग शिकायत करते हैं कि तुलसीदास मौके-बेमौके हर जगह पाठकोंको याद दिलाते रहते हैं कि राम वही ब्रह्म हैं। वे (आलोचक) यह नहीं जानते कि सारे मानसका यही उद्देश्य है कि यह दिखावें कि अवधेशकुमार राम और परात्पर ब्रह्म एक ही हैं और पाठकका ध्यान सदा इस उद्देश्यकी ओर केन्द्रित रहे। (गौड़जी)

नोट—४ यदि कोई कहे कि तुम्हारी मति मलिन है तुम प्रभुके गुण क्योंकर वर्णन करोगे तो उसपर आगे लिखते हैं—*'मोरि सुधारिहि……।'* (पं०)

मोरि सुधारिहि सो सब भांती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥ ३॥

शब्दार्थ—**अघाना**=किसी चीजसे जी (मन) का भर जाना।=सन्तुष्ट होना।

अर्थ—वे मेरी (बिगड़ीको) सब तरहसे सुधार लेंगे, जिनकी कृपा कृपा करनेसे नहीं अघाती॥ ३॥

टिप्पणी—*'मोरि सुधारिहि'* इति। *'सुधारिहि'* कहनेसे बिगड़ा होना पाया गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरी सब तरहसे बिगड़ी है—(१) मन और मति दोनों बिगड़े हैं, यथा—*'सूझ न एकउ अंग उपाऊ।*

मन मति रंक मनोरथ राऊ॥' (१। ८। ६) (२) कविता सब गुणरहित है, यथा—*'आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥ भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ कबित बिबेक एक नहिं मोरें""।'* (१। ९। ९-१०) (३) भणिति सर्वगुणरहित है, यथा—*'भनिति मोरि सब गुन रहित।'* (९) (४) भाग्य बिगड़ा है, यथा—*'भाग छोट अभिलाषु बड़।'* (१। ८) *'सब भाँती'* अर्थात् इन सब बिगड़ियोंको सब प्रकार सुधारकर बना देंगे।

नोट—१ *'जासु कृपा'* इति। *'कृपा'* गुणकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है—**'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी॥', 'स्वसामर्थ्यानुसन्धानाधीनकालुष्यनाशनः। हार्दो भावविशेषो यः कृपा सा जगदीश्वरी॥'** अर्थात् मैं ही समस्त जीवोंकी रक्षाके लिये समर्थ हूँ ऐसे सामर्थ्यका अनुसन्धान करना *'कृपा'* गुण है। अपने सामर्थ्यके अनुसन्धानसे शरणागतोंके पापोंका नाश करनेवाला जो जगदीश्वरका हार्दिक भाव है उसी विशेष भावको *'कृपा'* गुण कहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌की कृपाके तीन रूप हैं—जीवोंकी रक्षा, पापका नाश और मित्रभाव।

नोट—२ *'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'* के भाव ये हैं—(१) जिनपर एक बार कृपा हो गयी; फिर उनपर बराबर कृपा होती ही रहती है तो भी वे सहज कृपालु भगवान् यही समझते हैं कि जितनी कृपा चाहिये उतनी नहीं हो सकी। गोस्वामीजीका आशय यह है कि जो मुझपर कृपा हुई है तो अब वह बराबर बढ़ती ही जायगी और प्रभु मेरी सब तरहसे सुधारेंगे। (२) आपकी जो मूर्तिमती कृपा है वह अपने तीनों रूपोंसे लोकोंके जीवोंका हित करते हुए भी कभी अघाती नहीं। (वै०) (३) मूर्तिमती कृपा भी आपकी कृपाकी सदैव अभिलाषिणी रहती है कि मुझे भलीभाँति काममें लावें। (४) जिसपर कृपा की, उससे फिर चूक भी हो तो उस चूकपर दृष्टि भी नहीं देते। प्रभु यही सोचते हैं कि हमने इसपर कम कृपा की, इसीसे चूक हुई, नहीं तो न होती। उसकी चूक अपने मत्थे ले लेते हैं। ऐसे कृपालु हैं। (मा० प्र०) (५) करुणासिन्धुजी एक भाव यह देते हैं कि जिनकी कृपा बिना अपर-देव-कृपासे अघका हनन नहीं होता। रा० प्र०में भी यह भाव दिया है। इस प्रकार **'अघाती'**=अघ हाती। (६) जिनकी कृपासे आजतक कृपाधिकार देवी भी सन्तुष्ट नहीं, ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती है। (७) कृपा-देवी सदा चाहती है कि रघुनाथजी मुझपर कृपा बनाये रहें जिससे मुझमें कृपात्व सामर्थ्य बना रहे। (मानस-पत्रिका) (८) श्रीपाण्डेजी *'सो'* और *'जासु'* को ऊपरकी अर्धालीके *'सो नाम'* का सर्वनाम मानकर अर्थ करते हैं कि— *'सो'* (वही) नाम मेरी सब भाँति सुधारेगा जिसकी कृपा दीनोंपर कृपा करनेसे नहीं अघाती।' (९)मानसमयङ्ककार *'जासु कृपा'* से *'नामकृपा'* और *'कृपा अघाती'* से 'रूपकृपा अघाती' का अर्थ करते हैं। यथा—*'रूपकृपा चाहति सदा नाम कृपाकी कोर। दंती लसे सकार तहँ पूर्व अर्थ बरजोर॥'* श्रीजानकीशरणजीका मत है कि 'ऊपर नामका महत्त्व वर्णन हुआ, अब यहाँ वन्दनाका फल लिखते हैं कि सर्वप्रकार सुधारेंगे, अतः यह भाव उत्तम जँचता है कि जिस नामकी महिमाका वर्णन हो चुका उसकी कृपासे कृपा अघाती नहीं।'

आगे अपने ऊपर कृपा होनेका स्वरूप दिखाते हैं।

राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥ ४॥

शब्दार्थ—**'दया'**—बिना स्वार्थ जीवोंका भला करना 'दया' गुण है, यथा—**'दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।'** (भ० गु० द०) **'निधि'**=निधान, राशि, धन, समुद्र, पात्र इत्यादि। यथा—**'निधिर्निधाने राशौ च निधिर्वित्तसमुद्रयोः। शङ्खपद्मादिभेदे च निधिः पात्रे च कथ्यते॥'** (अभिधानचिन्तामणि नामक कोश) **पोसो**=पोषण किया; पालन किया।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी-सा अच्छा स्वामी और कहाँ मुझ-सा बुरा सेवक! तो भी दयासागरने अपनी ओर देखकर मेरा पालन किया॥ ४॥

नोट— १ *'सुस्वामि', 'कुसेवकु'* और *'दयानिधि'* पद देकर सूचित किया कि अन्य स्वामी कुसेवकको

नहीं रखते और सेवाके अनुसार ही पारिश्रमिक देते हैं। श्रीरामचन्द्रजी सुस्वामी हैं बिना सेवा ही कृपा करते हैं। ऐसा दयालु और नहीं।

यथा—(१) *'भूमिपाल ब्यालपाल नाकपाल लोकपाल, कारनकृपालु मैं सबै के जी की थाह ली। कादर को आदर काहू के नाहिं देखियत, सबनि सोहात है सेवा सुजान टाहली॥ तुलसी सुभाय कहै नाहीं कछु पच्छपात, कौने ईस किए कीस भालु खास माहली। राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत, मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली॥'* (क० उ० २३)

(२) *'सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, बिहीन गुन पथिक पियासे जात पत्थ के। लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित, नीके देखे देवता दिवैया घने कत्थ के॥ गीध मानो गुरु कपि भालु मानो मीत कै, पुनीत गीत साके सब साहिब समरत्थ के। और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के॥'* (क० उ० २४)

(३) *'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।'* (वि० १६२), *'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाए। कोसलपालु कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाए॥'* (वि० १६३)

(४)*'ब्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेतिहुँ खारे।'*..... *स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तोसों तुहीं दसरत्थ दुलारे॥'* (क० उ० १२)

(५)*'एक सनेही साचिलो केवल कोसलपालु। प्रेम-कनोड़ो रामसो नहिं दूसरो दयालु॥ तन-साथी सब स्वारथी, सुर ब्यवहार-सुजान। आरत-अधम-अनाथ हित को रघुबीर समान॥ नाद निठुर, समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर। ससि सरोग, दिनकर बड़े, पयद प्रेम-पथ कूर॥'*..... *सुनि सेवा सहीको करै, परिहरै को दूषन देखि। केहि दिवान दिन दीन को आदर-अनुराग बिशेषि॥'* (वि० १९१), *'साहिब समत्थ दसरत्थके दयालु देव, दूसरो न तोसों तूही आपने की लाज को।'* (क० उ० १३), *'आपने निवाजे की तौ लाज महाराज को।'* (क० उ० १४), *'बेचें खोटो दामु न मिलैं न राखैं कामु रे। सोउ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा रामु रे।'* (वि० ७१)

नोट—२ *'निज दिसि देखि.....'* इति। भाव यह कि कुछ मेरी सेवा देखकर मेरा पालन नहीं किया, क्योंकि मैं तो कुसेवक हूँ, मुझसे क्या सेवा हो सकती, वरन् अपनी दया, अनुकम्पा इत्यादि गुणोंके कारण मेरा पालन किया है। यथा—*'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई। हौं तो साईं द्रोही पै सेवकहित साईं॥'* (वि० ७२)

पं० रामकुमारजी—ऊपर कहा था कि *'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती'*, अब यहाँसे बताते हैं कि यह भरोसा हमें क्यों है।

लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती॥ ५॥

शब्दार्थ—**सुसाहिब**=सुस्वामी=अच्छा स्वामी।

अर्थ—वेदोंमें और लोकमें भी अच्छे स्वामीकी यह रीति (प्रसिद्ध) है कि वे विनय (सुनते हैं और) सुनते ही हृदयकी प्रीतिको पहिचान लेते हैं॥ ५॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी यों अर्थ करते हैं कि 'लोकमें देखनेमें आता है और वेदमें लिखा है कि सुन्दर साहेबकी यह रीति है कि विनती सुनता है और प्रीति पहिचानता है।' अब इसीका विस्तार आगे करते हैं। २—अर्धाली ४, ५ की टीका आगेके दोनों मूल दोहे हैं। (मानस-पत्रिका)

गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ ६॥

सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥ ७॥

शब्दार्थ— **'गनी'** अरबी भाषाका शब्द है। इसका अर्थ 'धनवान्' 'अमीर' है, जिसको किसी वस्तुकी परवा या चिन्ता न रह जाय। **मलीन** (मलिन)=अपयशी=मल-दूषित।=जिनके कर्म, स्वभाव या कुल बुरे

हों, मैली वृत्तिवाले, मैले। **गरीब**=निर्धन। **नागर**=नगरका रहनेवाला, चतुर, सभ्य, शिष्ट और निपुण व्यक्ति। **मूढ़**=मूर्ख। **ग्रामनर**=देहाती, गँवार। **उजागर**=स्वच्छ, भले, प्रसिद्ध, दीप्तिमान्। स्वच्छवृत्तिवाले यशस्वी। **अनुहारी**=के अनुसार।

अर्थ—धनी, गरीब, गँवार, चतुर, पण्डित, मूर्ख, मलिनवृत्तिवाले और स्वच्छवृत्तिवाले (पवित्र, यशस्वी) तथा अच्छे और बुरे कवि, ये सब स्त्री क्या पुरुष अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार राजाकी प्रशंसा करते हैं॥ ६-७॥

नोट—१ ये दसों क्यों सराहना करते हैं, यह आगे बताया है कि वह 'नृपाल' है और 'ईश-अंश' से उत्पन्न है। इस कारण उसकी सराहना करते हैं।

नोट—२ मा० म० कार *'ग्राम'* का अर्थ 'समूह' और 'वृन्द' करते हैं और उनको 'गनी, गरीब, नागरनर, इत्यादि सबके साथ लगाते हैं। इस तरह नौ प्रकारके लोगोंके नाम यहाँ होते हैं। वे शब्दोंके अर्थ यह लिखते हैं—**पण्डित**=क्षर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्मके वेत्ता। **मूढ़**=क्षर और अक्षर दोनों ब्रह्मके ज्ञानसे रहित। **मलीन**=वेदोक्त कर्म और दिव्य तीर्थाटन इन दोनों कर्मोंसे रहित। **उजागर**=वेदोक्त कर्मों और दिव्य तीर्थाटन करके बाह्याभ्यन्तरमें विमल। पं० रामकुमारजीके मतानुसार, **पण्डित**=मान और अपमानमें समान रहनेवाला तथा अक्षोभ। यथा—'**न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते। गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते॥**' पुनः, **पण्डित**=प्राणितत्त्व, योगतत्त्व, कर्मतत्त्व और मनुष्यहितकारी सम्पूर्ण उपायोंका ज्ञाता, निष्कपट, रोचक वक्ता, सतर्क एवं प्रतिभाशील, ग्रन्थोंका शीघ्र तथा स्पष्ट वक्ता। यथा—'**तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्। उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते॥ प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्। आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते॥**' **मूढ़**=बिना बुलाये भीतर जानेवाला, बिना पूछे बहुत बोलनेवाला, प्रमत्तोंमें विश्वास रखनेवाला 'मूढ़' कहलाता है, यथा —'**अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते। अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥**' (महाभारत उ० प्र० ३३। २६, २७, २८, ३६)

नोट—३ पं० शिवलालपाठकजी इन चौपाइयों, *'गनी गरीब""रीझत राम सनेह निसोतें'* का भाव यह कहते हैं—*'गनी आदि पाँचो बहुरि, धनप आदि लखि पंच। हौं गरीब आदिक निगम, रटना मोर न रंच॥'* इसका भावार्थ बाबू इन्द्रदेवनारायण सिंहजीने यह लिखा है कि 'मयङ्ककार सन्दर्भ कहते हैं कि जिसके यशको (गनी) कुबेर, (नागर) सनकादि, (पण्डित) बृहस्पति, (उजागर) नारद, (सुकवि) शुक्राचार्यादिक साहसकर कुछ कथन करते हैं, उसके यशको मैं गरीब, ग्रामनर, मूढ़, मलिन और कुकवि होकर क्या कह सकता हूँ; परन्तु आशा है कि मेरी किञ्चित् रटनाको प्रेमसंयुक्त विचार श्रीरामचन्द्रजी रीझेंगे, जो शुद्ध प्रेमके रसिक हैं।' [तात्पर्य यह है कि प्राकृत महिपालके राज्यके 'गनी, नागर, पण्डित, उजागर और सुकवि' ये पाँचों अप्राकृत महिपाल कोसलराज श्रीरघुनाथजीके दरबारमेंके क्रमसे कुबेर (धनद), सनकादि, बृहस्पति, नारद और शुक्राचार्य इत्यादि हैं, जो अपनी भक्ति, नति और भणितसे सम्मान पाते हैं। और मैं गरीब आदि '**निगम**'(=वेद=चार) हूँ। मेरे पास न तो धन ही है न बुद्धि, न नम्रता है न सुन्दर वाणी ही। मेरी तो गति ही देखकर सम्मान करेंगे कि इस बेचारेकी इतनी ही गति है।]

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परम कृपाला॥ ८॥
सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति* गति पहिचानी॥ ९॥

शब्दार्थ—**नृपाला**=नर अर्थात् मनुष्योंका पालन करनेवाला= राजा। **भव**=उत्पन्न, पैदा। **साधु**=समीचीन मार्गमें चलनेवाला (पाण्डेजी)।=पवित्र, सीधा। **सुजान**=मतिकी गति जाननेवाला (पाण्डेजी)।=जानकार। **सुसील**=सुन्दर स्वभाववाला।=दीन, हीन, मलिनको भी अपनानेवाला।

* मति—रा० प०, करु०, वै०, पं०।

अर्थ—साधु, सुजान, सुशील, ईश्वरके अंशसे उत्पन्न और परम कृपालु राजा सबकी सुनकर उनकी वाणी, भक्ति, नम्रता और गति पहिचानकर सुन्दर कोमल वचनोंसे उन सबोंका आदर-सत्कार करता है॥ ८-९॥

नोट—१ गोस्वामीजीने राजाकी स्तुति करनेवाले दस प्रकारके लोग गिनाये, राजामें साधुता, सुजानता, इत्यादि पाँच गुण बताये और फिर यह बताया कि राजा प्रशंसा करनेवालोंकी *'भणिति, भक्ति नति, गति'* पहिचानकर उनका आदर-सत्कार करते हैं।

नोट—२ पं० रामकुमारजी और श्रीकरुणासिन्धुजी राजामें पाँच गुण मानते हैं और बाबा हरिहरप्रसादजी *'नृपाला'* को भी विशेषण मानकर छः गुण मानते हैं। बाबा जानकीदासजी *'साधु, सुजान, सुसील* और *परम कृपाला'* ये चार गुण मानते हैं। पं० रामकुमारजी अर्धाली ७में आये हुए 'प्रीति' शब्दको भी 'भणिति, भक्ति, नति और गतिके साथ गिनकर पाँच बातोंका पहिचानना मानते हैं।'

नोट—३ *'ईस अंस भव'* इति। राजा ईश्वरका अंशावतार माना जाता है यथा—'**नराणां च नराधिपम्।**' (गीता १०। २७) मनुस्मृतिमें कहा है कि राजाको चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, पवन, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम—इन अष्टलोकपालोंका शरीर समझो, क्योंकि इन अष्टलोकपालोंके सारभूत अंशोंको खींचकर (परमात्माने राजाको बनाया) इन्द्रादि लोकपालोंके अंशसे राजाकी शक्ति निर्माण की गयी है, इसीलिये राजाका पराक्रम और तेज सब प्राणियोंसे अधिक होता है। यथा—'**सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्तापत्योर्यमस्य च। अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥**' (मनु० ५। ९६), '**इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येषु सर्वभूतानि तेजसा॥**' (मनुस्मृति ७। ४-५) इस तरह यहाँ 'ईश' का अर्थ लोकपाल है।

नोट—४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'चन्द्रांशसे साम हो, कुबेरांशसे दाम हो, यमांशसे दण्ड हो, इन्द्रांशसे विभेद हो, यह चारों अंशसंयुक्त उत्पत्ति राजाकी हो और कृपालु हो, यह प्राकृत उत्तम राजाओंका लक्षण है।' (मा० मा०)

नोट—५ अब प्रश्न यह है कि—(१) 'दसों सराहनेवालोंमेंसे किसमें क्या बात पहिचानकर राजा उसका सम्मान करते हैं?' (२) 'अपने किस गुणसे किसकी पहिचान करते हैं?'

इसपर पं० रामकुमारजी, श्रीकरुणासिन्धुजी, श्रीजानकीदासजी तथा महाराज हरिहरप्रसादजीने जो विचार प्रकट किये हैं वे निम्नलिखित हैं—

पं० रामकुमारजी—राजाकी स्तुति करनेवाले पाँच प्रकारके हैं—(१)गनी, गरीब; (२) ग्रामनर, नागर नर; (३) पण्डित, मूढ़; (४) मलिन, उजागर। और (५) सुकवि, कुकवि। राजा— (१) साधु, (२)सुजान, (३) सुशील, (४) ईश-अंश-भव और (५) परमकृपालु हैं। अर्थात् पाँच गुणोंसे युक्त हैं। राजा अपने इन गुणोंसे प्रजाकी—(१)प्रीति, (२)भणिति, (३)भक्ति, (४) नति और (५)गति क्रमसे पहिचानते हैं। पहिचाननेमें भी पाँच ही बातें कही हैं, यथा—*'बिनय सुनत पहिचानत 'प्रीती', 'भनिति', 'भगति', नति', 'गति', 'पहिचानी'।*

(इनमें क्रमालङ्कार हुआ)—। सुकवि और कुकविकी भणित, मलिन एवं उजागरकी भक्ति, पण्डित तथा मूढ़की नति, ग्रामनर और नागरकी गति और गनी—गरीबकी प्रीति पहिचानते हैं। यह क्रम उलटा है जैसा *'कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।'* (७। १०२) में भी है।

प्रशंसकोंके नाम	क्या बात देखकर आदर करते हैं	अपने किस गुणसे प्रीति इत्यादि पहिचानते हैं
१ गनी, गरीब	प्रीति	साधुतागुणसे प्रीति पहचानते हैं, यथा—*'कहहिं सनेह मगन मृदुबानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी॥'* (२। २५०)
२ ग्रामनर, नागर	गति	कृपालुतासे गति।
३ पण्डित, मूढ़	नति	ईशअंशत्व गुणसे 'नति' पहिचानते हैं। क्योंकि ईश्वर एक

		ही बार प्रणाम करनेसे अपना लेते हैं—'*सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥*' (२। २९९) *भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥*' (वि० १३५)
४ मलिन, उजागर	भक्ति	सुशीलतासे भक्ति पहिचानते हैं।
५ सुकवि, कुकवि	भनिति	सुजानतागुणसे भणिति।

यह पं० रामकुमारजीका मत हुआ। अब औरोंके मत दिये जाते हैं।

प्रशंसकोंके नाम	क्या बात देखकर आदर करते हैं	अपने किस गुणसे प्रीति इत्यादि पहिचानते हैं
१ सुकवि, पण्डित —(ना० प्र० मा० पत्रिका, रा० प्र०, करू० मा० मा०)	भणिति। भणितिके कहनेवाले यह दोनों हैं। सुकविकी काव्य-रचना देखकर, पण्डितोंका वेद, शास्त्र आदिके भाव और अर्थका ज्ञान देखकर जो उनकी वाणीमें प्रकट होता है।	सुजानता गुण से। सुजान ही भणितकी पहचान कर सकता है। यहाँ चौदहों विद्याओंमें निपुण होनेसे 'सुजान' कहा है।
बैजनाथजी इसीमें 'नागर' को भी लेते हैं।		
२ गनी, नागर (करु०), गनी (मा० मा०)	भक्ति। गनी धनसे राजाकी सेवा करते हैं, यह राजभक्ति है। नागर कुल और क्रियामें श्रेष्ठ हैं। वे राजासे धर्म कर्म कराकर (करु०), या नागर चतुर हैं अपनी चतुराईसे देश-कोषका काम करके, सेवा करते हैं—(मा० प्र०)	साधुता गुणसे।

(क) रा० प्र०में सुकवि और मूढ़की भक्ति पहिचानकर आदर करना सूचित किया है; क्योंकि इनके भीतर किसी प्रकारका अभिमान नहीं रहता है, ये जब कुछ कहेंगे तो भक्तिहीसे। इसकी पहिचान 'साधु' का काम है। सुकवि और पण्डितके विपर्ययमें ये दो हैं। (ख) बैजनाथजी गनी और उजागरकी भक्ति साधुतागुणसे पहचानना कहते हैं।

३ उजागर (करु०, मा० प्र०)	मति। उजागर=सभाचातुरीमें निपुण—(करु०)। या अच्छी क्रियावाले (मा० प्र०)। ये राजाको सुन्दर मति देते हैं।	सुशीलता गुणसे।

करु०, मा० प्र० में 'मति' पाठ है उसके अनुसार भाव कहा गया है।

रा० प्र० कार गनी और उजागरकी नति (=नम्रता) देखकर राजाका अपनी सुशीलतासे आदर करना लिखते हैं। मा० मा० कार 'नागर, उजागर' की गति देखना लिखते हैं। जब वे अपनी चतुराई और अभिमान छोड़कर दीन होकर रहेंगे तभी राजा प्रसन्न होगा। और बैजनाथजी गरीब और मलिनकी नम्रता देखना कहते हैं।

४ गरीब, गँवार मलिन, मूढ़, कुकवि (करु०, मा० प्र०)	गति। ये लोग किसी लायक नहीं हैं, हम न पूछेंगे तो इन्हें कौन पूछेगा? इनकी गति हम ही तक है, ऐसा विचाकर आदर करते हैं।	परमकृपालुता गुणसे।

बैजनाथजी मूढ़, कुकवि और ग्रामनर इन तीनको यहाँ लेते हैं।

यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान-सिरोमनि कोसल-राऊ॥ १०॥

शब्दार्थ—**प्राकृत**=साधारण, मायिक। **महिपाल**=पृथ्वीका पालन करनेवाला=राजा। **जान**=ज्ञानी, सुजान। **कोसल**=अयोध्याजी। **राऊ**=राजा।

अर्थ—यह स्वभाव तो प्राकृत राजाओंका है। कोशलनाथ श्रीरामचन्द्रजी तो सुजानशिरोमणि हैं॥ १०॥

नोट—१ औरोंको प्राकृत कहकर श्रीरामजीको अप्राकृत बतलाया और राजा सुजान हैं, ये सुजानशिरोमणि हैं। यथा—'*नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥*' (२। २५४) '*सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।*' (२। २५७), '*राम सुजान जान जन जी की।*' (२। ३०४)

पं० रामकुमारजी—ग्रन्थकार यहाँ राजाओंकी रीति लिख रहे हैं। इसीलिये श्रीरामजीको भी '*कोसल राऊ*' लिखा।

नोट—२ श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'ऊपरकी चौपाइयोंमें तो केवल दृष्टान्त है। इन दृष्टान्तोंके दार्ष्टान्त क्या हैं? अर्थात् श्रीरामराज्यमें गनी गरीब आदिक कौन हैं?'

ग्राम	गनी	नागर	पण्डित	सुकवि	उजागर	गरीब, कुकवि मूढ़ मलिन, ग्राम-नर
समस्त ब्रह्माण्ड	दिग्पाल	पुत्रों-सहित ब्रह्माजी (करु०)। शारदा गणेश (मा० प्र०)	मुनीश, बृहस्पति, शेष, इत्यादि	वाल्मीकि आदि	शारदा इत्यादि (करु०)। दसों पुत्रों-सहित ब्रह्माजी (मा० प्र०)	इनमें गोस्वामीजी अपनेको रखते हैं कि हमें कुछ नहीं आता, आप ही की गति है।
मा० म०	कुबेर	सनकादि	बृहस्पति	शुक्राचार्य	नारद	गोस्वामीजी

विशेष दोहा (२८। ६-७) में मा० म० का मत देखिये।

नोट—३ यह ध्वन्यात्मक अर्थ है।

रीझत राम सनेह निसोतें। को जग मंद मलिन मति* मोतें॥ ११॥

शब्दार्थ—**निसोत**=नि+स्रोत=जिसकी धार न टूटे; तैलधारावत्।=जिसमें और किसी चीजका मेल न हो; शुद्ध, निरा, यथा—'*तौ कस त्रिबिध सूल निसि बासर सहते बिपति निसोतो*', '*कृपा-सुधाजलदादि मानिबो कहौं सो साँच निसोतो।*' रीझत=प्रसन्न होते हैं, द्रवीभूत होते हैं—(श० सा०)

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी शुद्ध प्रेमसे रीझते हैं, (परन्तु) जगत्‌में मुझसे बढ़कर मन्द और मलिन बुद्धिवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं॥ ११॥

पं० रामकुमारजी—भाव यह है कि 'मुझमें स्नेह नहीं है, इसीसे मलिन हूँ। स्नेह जल है, यथा—'*माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु।*' (१। ३७) स्नेहसे मलिनता नहीं रहती, यथा—'*रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।*' (वि० ८२) प्राकृत राजा गुणसे रीझते हैं और स्नेहसे, परन्तु श्रीरामजी केवल स्नेहसे रीझते हैं।'

नोट—१ '**निसोतें**' अर्थात् 'जैसे शुद्ध तैलकी धारा टूटती नहीं चाहे एक बूँद भी रहे, जब उसको गिराओगे तो वह एक बूँदकी भी धारा न टूटेगी। भाव यह कि जिनका निरवच्छिन्न प्रेम रामचरणमें है उन्हींपर रीझेंगे तो मेरे ऊपर कैसे रीझेंगे, मैं तो मैं ही हूँ।'

२ सुधाकर द्विवेदीजी—निषाद, शबरी आदिकी कथासे स्पष्ट है कि अविच्छिन्न स्नेहकी धाराहीसे रीझते हैं; इसीलिये मुझे भी आशा है कि मुझपर राम रीझेंगे, नहीं तो मेरे-ऐसा संसारमें कौन मन्द मलिन मति है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

---

* मन—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मति—१६६१, १७०४।

मा० प्र०—यदि कोई कहे कि श्रीरामजी तो शुद्ध प्रेमसे रीझते हैं तो उसपर कहते हैं कि यद्यपि ऐसा है और यद्यपि मैं अत्यन्त मंद मलिन मति हूँ तथापि *'सठ सेवक—'*।

दोहा—सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु॥ २८ (ख)॥

शब्दार्थ—**उपल**=पत्थर। **जलजान**=जल+यान=जलपर चलनेवाला रथ या सवारी=नाव, जहाज। **सचिव**=मन्त्री। **सुमति**=सुन्दर बुद्धिवाला।

अर्थ— (मुझ) शठ सेवककी प्रीति और रुचिको कृपालु श्रीरामचन्द्रजी (अवश्य) रखेंगे कि जिन्होंने पत्थरोंको जलयान (जलपर तैरने व स्थिर रहनेवाला) बना दिया और बानर-भालुओंको सुन्दर बुद्धिवाला मन्त्री बना लिया॥ २८॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। *'राम कृपालु'* कहनेका भाव यह है कि प्राकृत राजा अपने कृपालुता-गुणके कारण सबका सम्मान करते हैं तो मुझे विश्वास है कि शठ सेवककी प्रीति, रुचि रामचन्द्रजी रखेंगे क्योंकि वे कृपालु हैं। इसीको उदाहरण देकर और पुष्ट करते हैं। (ख) 'पत्थरको नाव बना देना', और कपि-भालुको 'सुमति मन्त्री बनाना' कहना साभिप्राय है। श्रीरामकथा रचनेका प्रेम और रुचि है, बिना सुमतिके उसे कर नहीं सकते और अपनी 'मति अति नीच' है, जैसा कहा है—*'करन चहउँ रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥'* (१। ८) *'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोरि।'* (१। १४) श्रीरघुनाथजीने कपि-भालुको सुन्दर मति देकर मन्त्री बनाया तो मुझे भी सुमति देंगे। (ग) पुनः भाव यह कि उन्होंने पत्थरको पानीपर तैराया जिसपर कपि-भालु चढ़कर समुद्र पार हुए, इसी तरह कथा अपार है, वे मुझे भी पार लगायेंगे। (घ) पत्थरको *'जलजान'* करना, कपि-भालुको सुमति देना यह अयोग्यको योग्य करना है।

नोट—१ *'प्रीति रुचि'* क्या है ? पण्डित रामकुमारजीका मत ऊपर आ चुका। सन्त श्रीगुरसहायलालजीके मतानुसार *'सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा॥'* (२८। २) यह प्रीति है। और *'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहि कृपा अघाती॥'* यह रुचि है।

सन्त उन्मनीटीका—(क) नल-नीलको शाप था कि जो पत्थर वे जलमें डालेंगे वह डूबेगा नहीं, इससे जलपर इनके स्पर्श किये हुए पत्थर तैरते थे। परन्तु एक साथ ही ठहरना असम्भव था, सो भी आपने कर दिखाया, यथा—*'बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई॥ श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाखान।'* (लं० ३) आप तो डूबते ही हैं, दूसरोंको भी ले डूबते हैं, सो दूसरोंको पार करनेवाले हुए। लं० ३ में भी देखिये। (ख) *'उपल किये जलजान'* का भाव यह भी है कि पत्थर आप डूबे सो तैरने लगा और कपि-भालु जो केवल नटोंके नचानेयोग्य थे वे सुन्दर सम्मति देनेवाले मन्त्री बन गये। जिनकी ऐसी अद्भुत करनी है कि गुरुतर पत्थर काष्ठवत् लघु हो गया और पशुयोनिवाले नरके काम करने लगे तो वे मेरा मनोरथ क्यों न पूरा करेंगे, मैं तो नर-शरीरमें हूँ, यद्यपि शठ सेवक हूँ ?

नोट—२ *'सचिव सुमति कपि भालु'* इति। यह कहकर जनाते हैं कि उत्तम कुलमें जन्म, सौन्दर्य, वाक्-चातुरी, बुद्धि और सुन्दर आकृति—ये कोई भी गुण प्रभु श्रीरामजीकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकते। यह बात दिखानेके लिये ही आपने उपर्युक्त सब गुणोंसे रहित होनेपर भी वानरोंसे मित्रता की। यह हनुमान्‌जी अपने नित्य स्तोत्रके पाठमें कहा करते हैं। यथा—'**न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः। तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥**' (भा० ५। १९। ७) आपकी यह कृपालुता कहाँतक वर्णन की जाय ? गोस्वामीजी कहते हैं कि मैं वाक्-चातुरी और बुद्धि आदिसे रहित हूँ, मुझे भी अवश्य अपनाकर सुन्दर बुद्धि आदि देंगे। अत्यन्त अयोग्य होनेपर भी उनकी

इस कृपालुतासे विश्वास होता है कि वे मेरी प्रीति और रुचि रखेंगे, जैसे बानर-भालुओंकी प्रीति और रुचि रखी थी। —विशेष दोहा २९ (४) *'कहत नसाइ—'* पर गौड़जीकी टिप्पणी देखिये। पूर्वार्धमें सामान्य बात कहकर उत्तरार्धमें विशेष सिद्धान्त कहकर उसका समर्थन करनेसे 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' हुआ।

नोट—३ श्रीकरुणासिन्धुजी महाराज लिखते हैं कि ऊपरकी चौपाई *'रीझत राम सनेह निसोतें'''''* से लेकर *राम निकाई रावरी है सबही को नीक०'* दोहा २९ तक श्रीगोस्वामीजीने षट्शरणागति कही है। इसलिये यह जानना परमावश्यक है कि षट्शरणागति क्या है। षट्शरणागति यथा—**'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववर्णनं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः॥'** (करु०) इसका भावार्थ यह है कि जो उपासनाके अनुकूल हो उसका सङ्कल्प करना 'प्रथम शरणागति' है। जो भक्तिका बाधक हो जिससे उपासनामें विक्षेप हो उसका त्याग, यह 'दूसरी शरणागति' है। मेरी रक्षा प्रभु अवश्य करेंगे यह विश्वास दृढ़ रखना, 'तीसरी शरणागति' है। यथा—*'जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोष। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस॥'* (२। १८३) *'यद्यपि मैं अनभल अपराधी।''''' तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी। छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी॥'* (२। १८३) कोल, भील, कपि, भालु, गीध, निशाचर आदि जो चौरासी भोगने योग्य थे उनकी प्रणाममात्रसे रक्षा की, उनके अवगुणोंका विचार न किया इत्यादि रीतिसे स्तुति करना, यह 'गोप्तृत्ववर्णन' 'चौथी शरणागति' है। प्रभुके लिये अपनी आत्मातक समर्पण कर देना यह 'आत्मनिवेदन' है। गृध्रराज जटायुने यही किया। मुझसे कुछ नहीं बनता, मैं तो किसी कामका नहीं, सब प्रकार अपराधी, पतित इत्यादि हूँ, यह 'कार्पण्य शरणागति' है। ये छः प्रकारकी शरणागतियाँ हैं। (करु०)

☞ षट्शरणागतिके उपर्युत श्लोकोंका पाठ ऐसा ही 'आनन्दलहरीटीका' में दिया है और उसी पाठके अनुकूल अर्थ भी दिया गया है जो ऊपर लिखा गया। परन्तु वाल्मीकीय युद्धकाण्ड सर्ग १७के आरम्भमें प्रसिद्ध भूषणटीकामें श्लोक इस प्रकार है—**'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥'** इस श्लोकके पाठमें '**गोप्तृत्ववरणम्**' है और श्रीकरुणासिन्धुजीके पुस्तकमें '**गोप्तृत्ववर्णनम्**' है। गोप्तृत्ववर्णनका अर्थ ऊपर दिया गया है और '**गोप्तृत्ववरणम्**' का अर्थ है—'रक्षकरूपसे भगवान्‌को वरण करना। अर्थात् आप ही एकमात्र मेरे रक्षक हैं इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना।'

'**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥**'(३३) **मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतद्विगर्हितम्॥** (वाल्मी० सुं० सर्ग १८। ३) ये श्रीवाल्मीकीय रामायणमें श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखवचन हैं, इनपर विश्वास करना '**रक्षिष्यतीति विश्वासः**', तीसरी शरणागति है। *'रीझत राम सनेह निसोतें'* में '**आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः**' और '**प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्**' पहली दो शरणागतियाँ दिखायी। *'को जग मंद मलिन मति मोतें'* में कार्पण्यशरणागति' है। *'सठ सेवक—'* में कार्पण्य और '**गोप्तृत्ववरणम्**' दोनों शरणागतियाँ मिश्रित हैं।

नोट—४ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'राजाओंके चार गुण ग्रन्थकारने दिखाये थे, अब उन गुणोंको *'कोसलराऊ'* श्रीरामचन्द्रजीमें दिखा रहे हैं। ऊपर चौपाइमें *'जानिसिरोमनि'* गुण कहा और यहाँ *'कृपालुता'* गुण। (मा० प्र०)

दोहा—होंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास॥ २८ (ख)॥

अर्थ— मैं भी कहलवाता हूँ और सब लोग कहते हैं और श्रीरामचन्द्रजी इस उपहासको सहते हैं कि कहाँ तो श्रीसीतानाथ ऐसे स्वामी और कहाँ तुलसीदास-सा उनका सेवक॥ २८॥

नोट—१ अब अपने विश्वासका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि हमारी प्रीति-रुचि अवश्य रखेंगे।

नोट—२ (क) *'सीतानाथ'* पद देकर श्रीरामचन्द्रजीका बड़प्पन दिखाते हैं। श्रीसीताजी कैसी हैं कि

'लोकप होहिं बिलोकत जाके॥' (२। १०३) सो वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करती हैं, यथा—*'जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। राम पदारबिंद रति करति सुभावहिं खोइ॥'* (उ० २४) जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य या बड़प्पन दिखाना अभिप्रेत होता है वहाँ ग्रन्थकारने प्रायः *'सीतानाथ', 'सीतापति'* ऐसे पद दिये हैं, यथा—*'जेहि लखि लखनहु ते अधिक मिले मुदित मुनिराउ। सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥'* (२। २४३) *'तुलसी रामहि आपु तें सेवक की रुचि मीठि। सीतापतिसे साहिबहि कैसे दीजै पीठि॥'* (दोहावली ४८) (ख) करुणासिन्धुजी *'सीतानाथ'*—पद देनेका भाव यह लिखते हैं कि शक्तियाँ तीन हैं—श्री-शक्ति, भू-शक्ति, लीला-शक्ति। ये श्रीसीताजीसे उत्पन्न हुई हैं, प्रमाण यथा—**'जानक्यंशसमुद्भूता श्रीभूलीलादिभेदतः। प्रकाशं श्रीश्च भूधारं लीलालवभवस्थितिम्॥'**

नोट—३ *'राम सहत उपहास'* इति। (क) यहाँ क्या उपहास है जो श्रीरामजी सहते हैं ? उत्तर—हँसी लोग यह उड़ाते हैं कि देखो तो कहाँ तो श्रीरामचन्द्रजी कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिनके सेवक हैं, यथा—*'सिव बिरंचि हरि जाके सेवक।'* (लं० ६२) *'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा।'* (१। ५४) पुनश्च, ऐश्वर्यमयी ब्रह्मस्वरूपिणी श्रीसीताजीके जो स्वामी हैं उनका सेवक 'तुलसीदास' बनता है, भला यह ऐसे बड़े स्वामीका सेवक होनेयोग्य है? कदापि नहीं। अथवा, हँसी यह कि ऐसे पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी कोई और सेवक न जुड़ा जो ऐसे शठको सेवक बनाया। (मा० त० वि०) ☞ उत्तम सेवक (जैसे हनुमान्‌जी, अंगदजी इत्यादि) से स्वामीकी कीर्ति उन्नत होती है और कुसेवकसे स्वामीकी बुराई व हँसी होती है। यथा—*'बिगरे सेवक स्वानके साहिब सिर गारी'* (विनय०) (ख) **'सहत'** पद देकर यहाँ प्रभुकी सुशीलता दर्शाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मुझे यह अभिमान है कि मैं श्रीरामजीका दास हूँ, जो मुझसे कोई पूछता है तो मैं कहता हूँ कि मैं रामदास हूँ। इससे दूसरे भी कहते हैं, श्रीरामचन्द्रजी शीलके कारण कुछ कहते नहीं, हँसी सह लेते हैं। पुनः,

नोट—४ *'सहस नाम मुनि भनित सुनि तुलसी-बल्लभ नाम। सकुचत हिय हँसि निरखि सिय धरम धुरंधर राम॥'* (दोहावली १८८) तथा तुलसीसतसईके इस दोहेके आधारपर श्रीबैजनाथजी उपहासका कारण यह कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी एकनारीव्रत-धारी हैं। सहस्रनाममें 'तुलसीवल्लभ' भी आपका एक नाम दिया है, इस नामको सुनकर श्रीसीताजी आपकी ओर देखकर मुसुकुराती हैं कि एकपत्नीव्रत हैं तो 'तुलसी' के वल्लभ कैसे कहलाये ? एकपत्नीव्रत आपका कहाँ रहा ? जिस तुलसीके आप वल्लभ हैं, उसके सम्बन्धसे गोस्वामीजी अपनेको श्रीसीतानाथका सेवक प्रसिद्ध करते हैं। स्वयं कहते हैं, दूसरोंसे कहलाते हैं। इस तरह अभीतक जो बात सहस्रनामहीमें गुप्त थी उसको मैं जगन्मात्रमें फैला रहा हूँ। जिसमें प्रभुका उपहास हो, जो बात सेवकको छुपानी चाहिये, मैं उसको प्रकट करता हूँ। श्रीसीताजी हँसी करती हैं कि यदि आपका एकपत्नीव्रत सच होता तो 'तुलसी' का दास आपसे क्योंकर नाता जोड़ता; 'सीता' या 'जानकी' दास ही आपका सेवक हो सकता था?

श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका भी मत यही है। वे लिखते हैं कि 'मेरे ऐसे नालायकको अपना दास बना लेनेसे रामजी उपहास सहते हैं कि श्रीसीतानाथ ऐसे प्रभु और तुलसीदास ऐसा सेवक! प्रभु राम जगज्जननी सीताके नाथ और मैं राक्षसपत्नी तुलसीका दास; इन दोनोंमें प्रभुदासका सम्बन्ध होना असम्भव है—यह ग्रन्थकारका आन्तरिक अभिप्राय है। इस ढिठाईपर आगे लिखेंगे और कहेंगे भी कि स्नेहके नातेसे रघुनाथजीने स्वप्नमें भी इस ढिठाईपर ध्यान न दिया।'—गौड़जीकी टिप्पणी भी २९ (४) में देखिये। उत्तरार्धमें 'प्रथम विषम अलंकार' है।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी॥ १॥

शब्दार्थ—खोरी (खोरि)=खोटाई, दोष, ऐब; यथा—*'कहउँ पुकारि खोरि मोहिं नाहीं'*। ढिठाई खोरी=ढिठाई और दोष।=ढिठाईकी खोरि।=ढीठतारूपी दोष। (पं० रा० कु०)

अर्थ—'इतने बड़े स्वामीका अपनेको सेवक कहना', तुलसीके दासका अपनेको सीतापतिका सेवक कहना'—यह मेरी बहुत बड़ी ढिठाई और दोष है। इस पापको सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ता है॥ १॥

टिप्पणी—इसी दोषको सज्जनोंसे क्षमा कराया है, यथा—*'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।'* स्वामीको कष्ट हुआ, उन्होंने उपहास सहा; यह पाप है, यथा—*'मोहि समान को साँइ दुहाई।'* अत्यन्त बड़ी खोरी है। ढिठाई यह है कि जिनकी सेवकाई ब्रह्मादिक चाहते हैं तो भी उनको नहीं मिलती, यथा—*'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥'* उनका मैं सेवक बनता हूँ। (आगेकी चौपाईकी टिप्पणी भी देखिये।) [संत-उन्मनी-टीकाकार लिखते हैं कि *'ढिठाई'* पद देकर सूचित किया कि जान-बूझकर अवगुणमें तत्पर हैं।]

नोट—*'सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी'* के भाव। (१) यह मुहावरा (लोकोक्ति) है। जब कोई घृणाकी बात देखता है तो नाक सिकोड़ता है। इस प्रकार वह यह सूचित करता है कि यह बात हमको बुरी लगी। (२) यह सुनकर मूर्तिमान् अघको भी मुझसे घृणा होती है और नरक भी नाक सिकोड़ता है कि हमारे यहाँ ऐसे पापीकी समायी नहीं। पाप और नरकके अभिमानी देवता नाक सिकोड़ते हैं। भाव यह है कि पाप ऐसा है कि नरकमें भी हमें ठौर-ठिकाना नहीं। (३) पाप कारण और नरक कार्य है; इसलिये पापका फल नरक है। कार्य-कारण दोनों ही मुझसे घृणा करते हैं। (४) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि पाप सोचता है कि यह हमारा सम्बन्धी है और नरक अपने योग्य समझता है। ऐसा होते हुए भी मैं अपनेको रामसेवक कहता हूँ इस ढीठताको देखकर वे नाक सिकोड़ते हैं। (५) गोस्वामीजीके विनयका १५८ पद यहाँ देखनेयोग्य है। यथा—*'कैसे देउँ नाथहिं खोरि। कामलोलुप भ्रमत मन हरि भक्ति परिहरि तोरि॥ बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि। देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि॥ किए सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि। संग बस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥ करउँ जो कछु धरउँ सचि पचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि॥ लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यौं गरे आसा डोरि। बात कहउँ बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि॥ एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि। निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि॥'* पुनश्च, *'बड़ो साईं-द्रोही न बराबरी मेरी को कोउ, नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं।'* इस भावपर सूरदासजीका भी पद है, यथा—*'बिनती करत मरत हौं लाज॥ यह काया नख शिख लौं मेरी पापन्ह भरी जहाज। आगे भयो न पाछे कबहूँ सब पतितन सिरताज॥ भागत नरक नाम सुनि मेरो पीठ देत यमराज। गीध अजामिल गणिका तारी मेरे कौने काज। सूर अधम को जबहिं तारिहौं तब बदिहौं ब्रजराज॥'*

समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहि सपने॥ २॥

शब्दार्थ—**सहम** =डर। **अपडर**—(१) झूठा डर अर्थात् जहाँ डरकी कोई बात न हो वहाँ डरना इसीको **'अपडर'** कहते हैं, यथा—*'अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहिं न दोष देव दिसि भूले'*—(अ० २६७), *'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥'* (२। २४२) पुनः, (२) *'अपडर'* का अर्थ 'अपने-आपसे डर होना', 'अपनी ही तरफसे डर मानना' भी लेते हैं। पुनः, अपडर (सं० अपदर)=अपभय, दुःखद भय। (मा० प०)। **सुधि** =स्मरण, खयाल, ध्यान। **सपने** =सोतेमें। = स्वप्नमें अर्थात् भूलकर भी।

अर्थ—अपनी ढीठता और दोषको समझकर मुझे अपने अपडरके कारण आप डर हो रहा है। (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजीने स्वप्नमें भी उसका खयाल नहीं किया॥ २॥

नोट—१ *'समुझि सहम मोहि अपडर अपने…'* से लेकर *'ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुराज बखाने॥'* तक 'आत्मसमर्पण' शरणागतिके लक्षण मिलते हैं। (करु०)

नोट—२ पण्डित रामकुमारजी इस चौपाईका भाव यों लिखते हैं कि—(क) 'पापी पापको नहीं डरता परन्तु मेरा पाप ऐसा भारी है कि उसे समझकर मुझे डर लगता है। इस कथनसे पापकी बड़ाई दिखायी।' (ख) 'अपडर यह कि रामजीकी ओरसे डर नहीं है, समझनेसे मुझे अपनी ओरसे डर मानकर भय हुआ

है। मेरे ढिठाईरूपी पापकी सुधि स्वप्नमें भी नहीं की कि यह मेरी सेवकाईके योग्य नहीं' (ग) श्रीरामचन्द्रजीने ढिठाईको भक्ति मानकर मेरी प्रशंसा की, जैसा श्रीभरतजीने कहा है—*'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥'* (२। २९८) सब धर्म छोड़कर श्रीभरतजी श्रीरामजीकी शरण आये—इसीको अपनी ढिठाई कहा, श्रीरामचन्द्रजीने उसीको स्नेह और सेवकाई मान लिया। वैसे ही अपनेको प्रभुका सेवक बनाने और कहनेको श्रीमद्गोस्वामीजी ढिठाई मानते हैं—सेवकका धर्म यही है। उसीको रामजीने भक्ति मानकर सराहा—स्वामीका धर्म यही है।—*'लोक कहैं राम को गुलाम हौं कहावउँ। एतो बड़ो अपराध भो न मन बावों'* (वि०) *'ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावों।'* (विनय० १७१) (घ) *'सपने'*—ईश्वर तो तीनों अवस्थाओंसे परे है, उसमें स्वप्न कहाँ ? उत्तर—'स्वप्नमें भी' यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी स्वप्नमें भी कभी ऐसा नहीं हुआ, जागनेकी कौन कहे। अथवा, स्वप्न होना माधुर्यमें कहा गया है, जैसे उनका जागना और सोना बराबर कहा गया है वैसे ही स्वप्न भी कहा जा सकता है।

नोट—३ स्वप्नमें भी इसपर ध्यान न दिया, यह कैसे जाना ? करुणासिन्धुजी इसका उत्तर लिखते हैं कि यदि ध्यान देते तो हृदयमें उद्वेग उठता। सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि 'इस कथनका भाव यह हुआ कि रघुनाथजी मुझे छोड़े होते और मेरे दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि होती तो मेरा मन उनके गुणानुवादकी ओर न लगता और मेरे मनमें अधिक उद्वेग होने लगता सो मैं व्यर्थ अपने दोषोंको समझकर डरा हूँ।' पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—कहाँ सीतानाथ प्रभु और कहाँ मैं अधम तुलसीदास सेवक, इस मेरी बड़ी भारी बुरी ढिठाईको सुनकर अघसे भरा नरक भी नाक सिकोड़ेगा, यह समझकर सङ्कोचसे ग्रन्थकार कहते हैं कि मुझे स्वयं महाभय है। भय होते ही ग्रन्थकारके हृदयमें रामकृपाका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे स्पष्ट हो गया कि दासकी अधमतापर रामजीने स्वप्नमें भी नहीं ध्यान दिया।

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि* मति स्वामि सराही॥ ३॥

शब्दार्थ—**अवलोकि**=देखकर। **सुचित**=सुन्दर चित्त। =स्वस्थचित्त—(मा० पत्रिका)। **चख** (चक्षु)= आँख, नेत्र। **सुचित चख**=दिव्य दृष्टि। **चाही**=देखी, यथा *'सीय चकित चित रामहिं चाहा'* (१। २४८)=विचार किया। **सुचित चख चाही**=मनसे विचारकर। (पं० रा० कु०)

अर्थ—१ दूसरोंसे सुनकर और स्वयं सुन्दर चित्तरूपी नेत्रसे (भी) देखकर, स्वामीने मेरी भक्ति और बुद्धिको सराहा॥ ३॥ †(पं० रामकुमार, रा० प्र०, पाँ०)

* भोरि—१७२१, १७६२, छ०, मा० म०। मोरि— १६६१, १७०४। भोरि—रा० प्र०। 'भोरि' पाठके अर्थ ये हैं—(१) भोरी (भोली-भाली) मतिकी भक्ति स्वामीने सराही है। (रा० प्र०) (२) संसारकी ओरसे जिनकी मति भोली है उनकी प्रीति स्वामीने सराही है। (पं०) (३) मेरी भुलनी भक्ति और भुलनी मति। (मा० मा०) (४) मेरी भोरी भक्ति और स्वामीकी दीनपालिनी मति। (मा० मा०) (५) भक्ति करते हुए जो मति भूल जाय अर्थात् विधानपूर्वक भक्तिको जो मति नहीं जानती वह भक्ति 'भोरी मति' कहलाती है।(मा० मा०) (६) मेरी भक्ति और भोली बुद्धिकी सराहना की। (नं० प०) (७) मेरी भक्तिमें उसकी मति विभोर हो गयी है, यह सराहना की। (गौड़जी)

† पंजाबीजी इस अर्थमें यह दोष निकालते हैं कि—'श्रीरघुनाथजीका तो निरावरण ज्ञान है, उनका एक बार साधारण देखना और फिर चित्तसे देखना कैसे बने ?' दूसरा दोष यह बताते हैं कि यह वाक्य निज-प्रशंसा है इससे 'पुण्यनाश होते हैं; इन दोषोंके सम्बन्धमें सूर्यप्रसाद मिश्रजी कहते हैं कि 'ग्रन्थकार इस बातको किसी दूसरेसे तो कहते नहीं हैं, पर अपने मनके सन्तोषके लिये अपनेहीको आप समझाते हैं। दोष तब होता जब दूसरेसे कहते। दूसरा दोष भी ठीक नहीं, कारण कि प्रेमदृष्टिसे सब ठीक है, क्योंकि प्रभु प्रेमहीके अधीन हैं। यहाँतक कि सुदामाके तन्दुल और शबरीके जूठे फल खाये। विदुरका शाक भी खाया है, इत्यादि अनेक प्रमाण पुराणोंमें हैं, तब गोसाईंजीने जो इतना कहा तो इनमें क्या दोष है ?' पंजाबीजी अर्धालीका यह अर्थ करते हैं कि 'मैंने यह बात गुरु, शास्त्रोंसे सुनी और अवलोकी है। धन्य हैं मीराबाई आदिक। प्रभु हृदयके सुष्ठ नेत्र चाहनेवाले हैं। अर्थात् भक्तोंके ध्यान-परायणताको ग्रहण करते हैं और मेरी मतिमें भी ऐसा ही आता है कि स्वामी हृदयकी प्रीतिवाले भक्तोंहीको सराहते हैं।'

टिप्पणी—'भक्तिके सराहनेमें सुनना, देखना और विचारना लिखा। भाव यह है कि चूककी खबर नहीं रखते, हृदयकी भक्तिका बारम्बार स्मरण करते हैं, क्योंकि उनको भक्ति प्रिय है। इसी बातको आगे पुष्ट करते हैं, यथा—*'कहत नसाइ होइ हिय नीकी०'* से *'प्रभु तरु तर०'* तक। इसीसे मेरी भक्तिको सुना, देखा, विचारा। विनयमें इनकी भक्ति लिखी है। उसीको देख विचार हृदयमें डाल लिया।'

नोट—१ सुनने, देखने और सराहनेके प्रमाण विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें हैं। यथा—*'मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहू नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकरकी निबही है॥ सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है। कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को साहिब बाँह गही है॥ बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है॥'* (विनय० २७९)

श्रीलक्ष्मणजीसे सुना, पुनः श्रीसीताजीसे सुना, क्योंकि पूर्व प्रार्थना कर आये हैं कि *'कबहुँक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ.....', 'कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।......'* (वि० ४१-४२) *'देखत'* में *'अवलोकि'* का ग्रहण हो गया और, *'बिहँसि राम कहेउ०'* से सराहना पाया जाता है।

अर्थ—२ जब 'मैंने (गुरु वा सन्तोंसे) सुनकर, हृदयके नेत्रोंसे सुचित्त होकर* अवलोकन किया तब देख पड़ा कि मेरी मतिके अनुसार जो भक्ति मुझमें है सो रघुनाथजीकी सराही हुई है।' (करु०)

अर्थ—३ 'सन्त-महात्माओंसे सुनकर, शास्त्रोंका अवलोकन करके फिर सुन्दर चित्तरूपी नेत्रोंसे देखा (विचारा) तो देख पड़ा कि मति-अनुकूल जो मुझमें भक्ति है सो स्वामीकी सराही हुई है।' (मा० प्र०)

अर्थ—४ संसारमें मैंने सुना (क्योंकि संसारभर मेरा यश गाता है), देखा (कि सब मेरा आदर श्रीरामजीके समान करते हैं) और सुन्दर चित्तके नेत्रोंसे देखा अर्थात् विचारा (कि बिना श्रीरामजीके आदर किये कोई न आदर करता, श्रीरामजी ही सूत्रधर हैं)। [बाबा हरीदासजी]

अर्थ—५ 'जो मेरी ढिठाई—खोराईको सुनेंगे, जो-जो देखते हैं और ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे देखेंगे वे मेरी भोरी भक्ति और स्वामीकी दीनपालिनी मतिकी सराहना करेंगे'। *'सुचित'*= (नेत्रको) अव्यग्र करके' [मा० मा०]। [मा० मा० मयंककारकी परम्पराके हैं। उनका पाठ *'भोरि'* है।]

अर्थ—६ 'गुरु अरु वेदसे श्रवण करके तथा ध्यानद्वारा हृदयके नेत्रोंसे देखकर मुझे यही निर्णय हुआ कि पराभक्तिवश, भूल भी हो जाय तो श्रीरामचन्द्रजी रूठते नहीं, प्रसन्न होकर हृदयसे लगाते हैं और यदि जानकर भक्ति बिसारे तो दुःख होता है।' (मा० मा०) ☞ सब अर्थोंपर विचार करनेसे प्रायः दो ही अर्थ प्रधान जान पड़ते हैं। एक तो श्रीरामजीका सुनना, देखना आदि, दूसरा कविका स्वयं सुनना आदि। अब प्रश्न यह है कि क्या सुना, देखा, प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सुनने-देखनेके भाव प्रथम ही टिप्पणी और नोट १ में लिखे गये हैं। कविके सुनने-देखने आदिका भाव यह है कि—अपनी धृष्टता समझकर सन्तोंसे अथवा गुरुजीसे घबड़ाकर पूछा तो उन्होंने ढाढस दिया कि श्रीरघुनाथजी झूठेहू भक्तसे कैसा ही अपराध क्यों न बन पड़े कभी क्रोध नहीं करते। अथवा, जहाँ-तहाँ सन्तोंसे अपनी बड़ाई सुनी, सन्त और भगवन्तमें अन्तर नहीं है, अतः उनकी बड़ाई करनेसे जाना गया कि भगवान् प्रसन्न हैं। (पां०)

---

* सुनि अवलोकि, यथा—'राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥ क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥ देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥' (अयो० २९९) पुनश्च—''देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच।' (अयो० २६७) '.....मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू।' 'मम प्रन सरनागत भयहारी...कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥...रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं।' (सुं० ४४) इत्यादि। पुनश्च, यथा—'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो' (यह संत श्रीनाभाजीकी वाणी है। संतवाणी प्रभुकी प्रेरणासे होती है।)

वेदशास्त्रोंमें भी यही सिद्धान्त देखा। (प्रमाण दोहा २९ (५) में देखिये) और अपने सुन्दर चित्तरूपी अथवा ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे यही अनुभव भी किया।

मा० मा० कारका मत है कि 'ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे देखनेका तात्पर्य है—'ध्यानावस्थित होकर देखना' इससे क्योंकर जाना कि 'प्रभु कोप नहीं करते, कृपा ही करते हैं ?' उत्तर यह है कि जब किसीपर किञ्चित् भी प्रभुका कोप होता है, तब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और विधानपूर्वक समाधि नहीं बनती।''''मेरी समाधि विधानपूर्वक समाधिद्वारा ध्यानरसको प्राप्त हुई, इससे मैं जानता हूँ कि कृपा है, कोप नहीं।' गौड़जीकी टिप्पणी दोहा २९ (४) में देखिये।

नोट—२ कौन भक्ति सराही है ? *'हौंहुँ कहावत'*—वह भक्ति यह है। क्योंकि श्रीमुखवचन है कि **'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥'** और यह बात शास्त्रमें देखी और सुनी भी है।

नोट—३ यहाँसे यह बताते हैं कि हमने क्योंकर जाना कि प्रभुने हमारे अघोंपर किञ्चित् ध्यान नहीं दिया है—(मा० प्र०)।

कहत नसाइ होइ हिअँ[1] नीकी। रीझत राम जानि जन जी की ॥ ४॥

शब्दार्थ—नसाइ=नष्ट हो, बिगड़ जाय। नष्ट हो जाती है, बिगड़ जाती है।

अर्थ—१ कहनेमें चाहे बुरी जान पड़े (कहते न बने) मगर हृदयकी अच्छी हो। श्रीरामचन्द्रजी दासके हृदयकी जानकर रीझते हैं॥ ४॥

अर्थ—२ श्रीरामजी अपने जनके जीकी बात जानकर रीझते हैं यह बात कहनेकी नहीं है, कहनेसे उसका रस जाता रहता है (मन-ही-मन समझ रखनेकी है, उसके आनन्दमें डूबे रहनेकी है)। हृदय-हीमें उसका रहना अच्छा है। [पं०, गौड़जी, मा० प०]

टिप्पणी— अर्थात् मुझसे कहनेमें नशानी है जो मैं अपनेको सेवक कहता हूँ, यथा—*'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो।' 'सठ सेवक की प्रीति रुचि''''''।'* रही यह कि मेरे हृदयमें प्रीति है, यही हियकी नीकी है।

नोट—१ (क) बाबा जानकीदासजी *'हिय नीकी'* का भाव यह कहते हैं कि 'हम श्रीरामजीके हैं' यह हृदयमें दृढ़ हो। यथा—*'हौं अनाथ प्रभु तुम अनाथहित चित यह सुरति कबहुँ नहिं जाई।'* (विनय० २४२)

(ख) अर्थ २ के भाव आगे गौड़जीके लेखमें देखिये। पंजाबीजी कहते हैं कि—सन्त यह कभी नहीं कहते कि स्वामी हमारी सराहना करता है, अतएव वे नहीं कहते। उस सुखको हृदयहीमें रखना उत्तम है। इससे गम्भीरता सिद्ध होती है। हृदयकी अनन्यता और गम्भीरताको जानकर प्रभु प्रसन्न होते हैं। (पं०)

नोट—२ इस चौपाईके भाव नारदपाञ्चरात्रके प्रथम रात्रके अ० १२ के श्लोक ३९से स्पष्ट हो जाते हैं—**'मूर्खो वदति विष्णाय बुधो वदति विष्णवे। नम इत्येवमर्थं च द्वयोरेव समं फलम्॥'** अर्थात् मूर्ख **'विष्णाय नमः'** कहता है और पण्डित **'विष्णवे नमः'** कहते हैं। दोनोंका तात्पर्य (नमन) और फल एक ही है। आशय यह है कि मूर्ख समझता है कि जैसे 'राम' से **'रामाय'** होता है वैसे ही 'विष्णु'से **'विष्णाय'** होगा, यह समझकर वह भगवान्‌को प्रणाम करते हुए **'विष्णाय नमः'** कहता है जो व्याकरण-दृष्टिसे अशुद्ध है। वस्तुतः **'विष्णवे नमः'** कहना चाहिये। और पण्डित शुद्ध शब्द—**'विष्णवे नमः'** कहकर प्रणाम करता है। भगवान् मूर्खके हृदयके शुद्ध भावको लेकर उसे वही फल देते हैं जो पण्डितको।—यही *'कहत नसाइ होइ हिय नीकी'* का भाव है।

नोट—३ *'जानि जन जी की'* इति। जीकी जानकर रीझते हैं। भाव यह है कि हृदय अच्छा न हो और वचनहीसे रिझाना चाहो तो नहीं रीझते।—(पं० रा० कु०) यह अर्थ और भाव विनयके १७८वें

१- हिय० को० रा०।

पदके '*कहत नसानी ह्वै है हिये नाथ नीकी है। जानत कृपानिधान तुलसीके जीकी है॥*' इन चरणोंसे भी सिद्ध होता है। सुधाकर द्विवेदीजी दूसरे प्रकारसे अर्थ करते हैं। वे लिखते हैं कि—'यह मन्त्ररूप हृदयगत प्रभुकी प्रसन्नता हृदयमें रखनेहीमें भला है, कह देनेसे, बाहर चली जानेसे, उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। ग्रन्थकारका यह भाव है कि मुझे तो रामजीको प्रसन्न करना है और प्राकृतजनोंसे क्या काम और रामजी तो भक्तजनके जीवकी प्रीति जानकर रीझते हैं।' श्रीमान् गौड़जी भी लगभग ऐसा ही अर्थ करते हैं। सूर्यप्रसाद मिश्रजी ऊपर दिये हुए अर्थका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि '*कहत नसाइ*' का यह अर्थ अत्यन्त अशुद्ध है, यह अर्थ कथमपि नहीं निकल सकता है। वे लिखते हैं कि 'ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि जीवमात्रका बाह्य व्यवहार संसारकी दृष्टिमें निहायत बुरा (*नसाइ*) हो वा भला हो पर जगदीश्वर तो हृदयके प्रेमको जानकर प्रसन्न होता है, वह बाह्य व्यवहारको कदापि नहीं देखता है।'

गौड़जी—गोस्वामीजी पहले तो कहते हैं कि अपनी प्रशंसा सुनकर तो प्राकृत राजा भी रीझ जाता है, फिर सरकार तो जानकारोंमें शिरोमणि हैं, हृदयके अन्तरतमकी बात जानते हैं। वह तो विशुद्ध प्रेमसे रीझते हैं सो यहाँ मेरी क्या स्थिति है सो सुनिये कि जगतीतलमें मेरे-जैसा '*मन्द*' और '*मलिनमति*' खोजे नहीं मिलेगा। इतनी अयोग्यतापर भी मुझे आशा होती है कि वह मेरे-जैसे शठ सेवककी प्रीति और रुचि रखेंगे, क्योंकि आपने बन्दर-भालुओंकी प्रीति और रुचि रखकर पत्थरको जहाज-सरीखा बना डाला था। [नल-नीलके स्पर्श किये पत्थर तैर भले ही जायँ पर वह बोझ भी सँभाल लें और बँधें तथा स्थिर भी रहें और अपने स्वभावको त्याग दें यह होना आवश्यक नहीं था। स्वभावसे ही उनका पुल बनना सम्भव न था। सरकारने उनकी प्रीतिको सम्मान दिया और असम्भवको सम्भव करनेकी उनकी रुचि उन्होंने रख ली। मेरी भी वह सब तरहसे सुधार ही लेंगे।] ऐसी आशा भी कठिन ही है क्योंकि वे पशु हैं, पशुता स्वाभाविक है, फिर भी वे अपराधी नहीं हैं। परन्तु मैं तो मनुष्य होते हुए भी पशुसे गया-बीता हूँ। मैं भारी ढीठ और अपराधी हूँ। मालिक तो '*सीतानाथ*' हैं, एकपत्नीव्रती और उसकी भी कठिन अग्निपरीक्षा लेनेवाले और उनका सेवक मैं क्या हूँ '*तुलसीदास*', जारपत्नीका दास, अपने प्रभुके बदनाम करनेवाले नामको धारण करनेवाला! मैं स्वयं अपनेको '*तुलसी*'-दास कहता हूँ और सबसे यही कहलवाता भी हूँ। सरकारके हजारों नामोंमें '*तुलसी वल्लभ*' ही नामको चुनकर बारम्बार उनको इस बदनामीकी याद ही नहीं दिलाता हूँ, बल्कि उपहास कराता रहता हूँ। [तुलना कीजिये दोहावलीके १८८वाँ दोहासे—'*सहसनाम मुनि भनित सुनि 'तुलसी बल्लभ' नाम। सकुचित हियँ हँसि निरखि सिय, धरम धुरंधर राम॥*' जिसका भाव यह है कि सरकार सीताजीकी ओर देखकर सकुचते हैं कि देखो हमारी करनी कि हमने जलन्धरकी स्त्रीका सतीत्व बिगाड़ा और सीताजीके हरणके कारण हम ही हुए फिर हमारी यह जबरदस्ती कि फिर उनकी ही अग्निपरीक्षा ली।] 'तुलसी' का नाम लेते ही हर तरहपर प्रभुके मनमें तो सङ्कोच और लज्जा होती है और दूसरोंको याद दिलाकर मर्यादापुरुषोत्तमकी घोर बदनामी और हँसी होती है; परन्तु मैं ऐसा शठ और ढीठ सेवक हूँ कि यह अपराध सदा करता रहता हूँ। मेरी यह ढिठाई और शठता बहुत बड़ी है और इतनी घृणित है कि सुनकर नरकने भी नाक सिकोड़ी कि ऐसा पातकी है कि हमको भी इसकी गन्दगी घिनौनी लगती है। इस दशाको समझकर मुझे अपने भीतर-ही-भीतर हृदयके अन्तःस्थलमें भारी भय है, अपने ही कसूरसे जी काँपता रहता है। परन्तु सरकारको देखिये कि सपनेमें भी इस महापातककी ओर कभी ध्यान न दिया। (जब कुटिल मनवाले कर्मचारियों और यम, चित्रगुप्तादि नरकके परमाधिकारियोंने देखा कि सरकार उधर ध्यान नहीं देते तो उन्होंने हमारी निन्दा की) तो सरकारने निन्दा (अवलोक=अपलोक) सुनकर बड़े स्नेहभरे चित्तसे और वात्सल्यभरी निगाहोंसे मेरी ओर देखा (और मैं निहाल हो गया) और (क्रोध या दण्डके बदले)

सरकारने उलटे सराहना की कि '(मेरी) भक्तिमें (ऐसा डूबा है कि अपनेको और मेरी बदनामीको) उसकी मति बिलकुल भूल गयी है। (यह कोई दोष नहीं है, बल्कि भक्तिमें ऐसा विभोर हो जाना मेरे सच्चे दासका एक भारी गुण है, ऐसा ही आदर्श दास होना भी चाहिये।)' प्रभुकी ऐसी कृपा, *'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'*, ऐसी ममता एक रहस्यकी बात है, अपने जीमें समझकर प्रभुकी इस प्रभुता और ममतापर लोट-पोट हो जाने और बलि-बलि जानेकी बात है, मुँहसे कहनेकी बात नहीं है। यह बात कि सरकार अपने भक्तके जीकी बात जानकर रीझ जाते हैं, ऊपरकी बातें कैसी ही बुरी हों उनकी परवा नहीं करते, कहनेकी नहीं है, मन-ही-मन समझकर उसके आनन्दमें डूबे रहनेकी है, कहनेसे तो उसका स्वाद घट जाता है। दुष्टात्मा विषयोंके भक्त कहनेसे उलटा समझने लगेंगे कि—'सरकार शायद अपनी निन्दासे ही रीझते हैं, उनको अपना उपहास ही प्रिय है। देखो न, तुलसी-जैसे निन्दाके अपराधीको दण्ड देना तो दूर रहा उलटे सराहना करते हैं।' इसलिये इसके कहनेमें हानि है, बात बिगड़ जाती है। [वह यह नहीं समझेंगे कि प्रभुकी अपने दासोंपर विशेष ममता है।] प्रभुके ध्यानमें दासकी की हुई चूककी बात तो आती ही नहीं। हाँ; उसके हृदयमें एक बार भी अच्छा भाव आता है तो सरकार उसे सौ-सौ बार याद करते हैं। देखो तो, बालिको जिस पापपर मार डाला वही पाप सुग्रीव और विभीषणने किया पर सरकारने उसका खयाल तो सपनेमें भी नहीं किया और भरतजी आदिके सामने उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाये, उनका आदर-सत्कार इतना किया कि अपना सखा कहा और कहा कि ये न होते तो हम रावणसे युद्धमें न जीतते, इत्यादि।

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिए[१] की॥ ५॥

शब्दार्थ—**किये की**=की हुई, हो गयी हुई। **चूक**=भूल-चूक, खता, अपराध। **सुरति**=याद, स्मरण। **सय**= शत=सौ। **सय बार**=सैकड़ों बार, अनेक बार। '**चूक किये की**'=चूककी बात, की हुई चूककी बात=चूक करनेकी बात (मा० प०)=भूलसे की हुई भक्तिकी कुकृति—(द्विवेदीजी)।

अर्थ—प्रभुके चित्तमें (अपने जनकी) भूल-चूक नहीं रहती। वे उनके हृदयकी (*'नीकी'* को) बारम्बार याद करते रहते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—चूक करना यह कर्म है। भाव यह है कि वचन और कर्मसे बिगड़े, पर मनसे अच्छा हो तो श्रीरामजी रीझते हैं, यथा—*'बचन बेष तें जो बनइ सो बिगरइ परिनाम। तुलसी मन तें जो बनइ बनी बनाई राम॥'* (दोहावली १५४) अब इसीका उदाहरण देते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी कहा है कि—'**कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥**' (२। १। ११) अर्थात् (वाल्मीकिजी कहते हैं—) कदाचित् किसी प्रसंगसे कोई किञ्चित् भी श्रीरामजीका उपकार करे तो वे संतुष्ट हो जाते हैं। और यदि सैकड़ों अपराध भी कर डाले तो उसको अपना समझकर उनका खयाल नहीं करते। पुन: श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है कि यदि कोई दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। यथा—'**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स:॥**' (९। ३०) तात्पर्य यह है कि जिसने यह भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि भजनके समान और कुछ नहीं है और जिसके मनमें केवल अनन्य भजनका निश्चय है, परन्तु काल-स्वभाव-कर्म आदिके वश वचन और कर्मसे व्यभिचार होते रहते हैं, इसमें उसका क्या वश ? ऐसा समझकर प्रभु उसके हृदयहीकी सचाईको देखते रहते हैं और चूककी ओर देखते भी नहीं। यथा—*'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।'* (विनय० २०६)। *'अपने देखे दोष सपनेहुँ*

१— शेषदत्तजी एवं कोदोरामजीकी पुस्तकमें 'बार दिए की' पाठ है। नंगे परमहंसजी उसे शुद्ध मानते हैं परन्तु मा० मा० कार उसको लेखप्रमाद बताते हैं। कहीं अन्य किसी पोथीमें यह पाठ नहीं मिलता।

राम न उर धरेउ।' (दोहावली ४७) *'अपराध अगाध भए जन ते अपने उर आनत नाहिंन जू। गनिका गज गीध अजामिल के गनि पातक-पुंज सिराहिं न जू॥'* (क० उ० ७)

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ ६॥

सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ ७॥

अर्थ—जिस पाप और अपराधसे बालिको (श्रीरामचन्द्रजीने) बहेलियेकी तरह मारा था फिर वही कुचाल सुग्रीवने की॥ ६॥ और वही करनी विभीषणकी थी। (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजी स्वप्नमें भी उस दोषको हृदयमें न लाये॥ ७॥

नोट—१ *'जेहि अघ', 'सोइ कीन्ह कुचाली', 'सोइ करतूति'—'सोइ'* पद देकर *'अघ', 'कुचाली'* और *'करतूति'* तीनोंको एक ही बताया।

नोट—२ बालिका क्या *'अघ'* था? भाईकी पत्नीपर बुरी दृष्टिसे देखना तथा अपनी पत्नी बनाना। बालिने सुग्रीवकी स्त्रीको छीन लिया और उसको अपनी स्त्री बनाया। यही अपराध बालिका था, यथा—*'हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी।'* (४। ५। ११), *'अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥ इन्हहि कुदृष्टि बिलोकहि जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥'* (४। ९)—यह उत्तर बालिके इस प्रश्नका रघुनाथजीने दिया था कि *'अवगुन कौन नाथ मोहिं मारा।'*—(कि० ९) पुनः यथा—*'बंधु बधूरत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि।'* (दोहावली १५७)

सुग्रीवने भी बालिके मारे जानेपर उसकी स्त्री ताराको अपनी स्त्री बनाया। धर्मशास्त्रकी रीतिसे दोनों पाप एक-से हैं, क्योंकि दोनों अगम्य हैं। छोटी भावज (छोटे भाईकी स्त्री) कन्या सम है, बड़ी भावज माताके समान है। देखिये श्रीसुमित्रा अम्बाने श्रीलक्ष्मणजीसे क्या कहा है—*'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥'* (२। ७४) परन्तु सुग्रीवने प्रथम यह प्रतिज्ञा की थी कि—*'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥'* (४। ७) यदि ऐसी प्रतिज्ञा है तो वह परम भक्त है। परम भक्त होकर भी उसने जान-बूझकर कुचाल की। इसी तरह विभीषणजीने भी मन्दोदरीको अपनी स्त्री बनाया था। यथा—*'सज्जन सींव बिभीषन भो अजहूँ बिलसै बर-बंधु-बधू जो।'* (क० उ० ५) तो भी प्रभुने उनके अवगुणोंपर ध्यान न दिया, क्योंकि श्रीमुख-वचन है कि **'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥'** (वाल्मी० ६। १८। ३)

देखिये विभीषणजी जब शरणमें आये तब कुछ हृदयमें वासना लेकर आये थे, पर प्रभुके सामने आते ही उन्होंने उस वासनाका भी त्याग कर दिया और केवल भक्तिकी प्रार्थना की, जैसा उनके *'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥'* (५। ४९) इन वचनोंसे स्पष्ट है। प्रभु श्रीसुग्रीवजी एवं श्रीविभीषणजी दोनोंकी इस भक्तिपर प्रसन्न हुए। इसी गुणको लेकर उनके चूकोंका कभी भूलसे भी स्मरण न किया, क्योंकि भक्तिगुण विशेष है। चूक सामान्य है। देखिये सुग्रीवने पीछे बालिका वध करानेसे इनकार कर दिया और विभीषणने राज्य न चाहा तो भी श्रीरामजीने यह कहकर कि—*'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥'* (४। ७) *'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥'* (५। ४९) बालि और रावणका वधकर दोनोंको राज्य दिया। विभीषणजीके शरण आते ही पहले उनका तिलक किया और *'लंकेस'* सम्बोधित किया। राज्यपद पानेपर दोनोंसे *'चूक'* हुई। श्रीरामजीने केवल उनके हृदयकी *'नीकी'* पर ही ध्यान दिया चूकपर नहीं। (नंगे परमहंसजी)

☞ स्मरण रहे कि बालि शरणागत न था किन्तु भक्तका शत्रु था, इसीसे उसको नीतिके अनुसार कर्म-दण्ड दिया गया। जब वह शरणमें आया तब प्रभुने उसकी वह चूक माफ (क्षमा) कर दी और कहा कि *'अचल करउँ तनु राखहु प्राना।'* (४। १०) और उसके सिरपर अपना करकमल स्पर्श किया। यथा—*'बालि सीस परसेउ निज पानी।'* (४। १०)

नोट—३ ***'ब्याध जिमि'*** इति। बहेलिये छिपकर पक्षीपर घात करते हैं, वही यहाँ सूचित किया। भाव यह है कि अपने जनके लिये यह अपयशतक लेना अङ्गीकार किया कि व्याधकी तरह बालिको मारा। ('बालि-वधके औचित्य' पर किष्किन्धाकाण्ड देखिये।) अपयश होना विनयके ***'सहि न सके जनके दारुन दुख हत्यो बालि सहि गारी।'*** (१६६) से स्पष्ट है।

नोट—४ ***'सपनेहु सो न राम हिय हेरी'*** इति। यथा—***'कहा बिभीषन लै मिलेउ कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहिं सब दिन आयो पालि॥' 'तुलसी प्रभु सुग्रीवकी चितइ न कछू कुचालि'***—[दोहावली १५९, १५७]।

नोट—५ गोस्वामीजीके कथनका आशय यह है कि सुग्रीव आदिकी कुचालि नहीं देखी, वैसे ही मेरी भी ***'ढिठाई'*** नहीं देखी।

ते भरतहि भेंटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें॥ ८॥

अर्थ—प्रभुने श्रीभरतजीसे मिलते समय भी उनका सम्मान किया और राजसभामें भी उनकी बड़ाई की॥ ८॥

नोट—१ भरत-मिलाप-समय सम्मान यह किया कि उनको भरतजीसे भी अधिक कहा, यथा—***'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥ मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहुँ तें मोहि अधिक पियारे॥'*** (उ०। ८) पुनः, ***'राम सराहे भरत उठि, मिले रामसम जानि।'*** (दोहावली २०८) (पं० रा० कु०)

नोट—२ पं० रोशनलालजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी भरतजीसे १४ वर्षके वियोगपर मिले तो सम्भव था कि भरत-मिलाप-समय इनको भूल जाते, क्योंकि प्रायः बिछुड़े-हुओंसे मिलनेपर लोग उस समय उन्हींपर ध्यान रखते हैं। परन्तु आपने उस समय भी इन दोनोंके सम्मानपर भी दृष्टि रखी।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'सुग्रीव विभीषणादि प्रभुकी रणक्रीडा देखकर उनके ऐश्वर्यमें पगे हुए हैं। ऐश्वर्योपासक एक प्रभुको छोड़कर किसको प्रणाम करें? प्रणाम न करनेसे वसिष्ठजीने उनको नीचबुद्धि समझ प्रभुसे पूछा कि ये कौन हैं ? प्रभु आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तोंकी न्यूनता कैसे सहन कर सकते? इससे वे उसी समय उनकी बड़ाई करने लगे।''''' भला कहाँ भक्त-शिरोमणि श्रीभरतजी और कहाँ वानर और राक्षस! उनकी न्यूनताके कारण ऐसा कहकर उन्होंने उनकी मर्यादा तीनों लोकोंमें विख्यात कर दी'—[वसिष्ठजीके सम्बन्धमें जो ऊपर कहा है कि उन्होंने सबको नीच बुद्धि समझा, इत्यादि किसी प्रामाणिक आधारपर हैं इसका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। ध्वनिसे ऐसा भाव सम्भवतः लिखा गया हो।]

नोट—३ ***'राजसभा रघुबीर बखाने'***, यथा—***'तब रघुपति सब सखा बुलाये। आइ सबन्हि सादर सिरु नाये॥ परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥ तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई॥ तातें मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'*** (उ० १६) ☞ राजसभामें प्रशंसा करनेका यह भाव है कि जो बात सभाके सामने कही जाती है वह अत्यन्त प्रामाणिक होती है।

टिप्पणी—सुग्रीव और विभीषणके अपराध कहकर अब वानरोंके अपराध कहते हैं। क्योंकि इन्होंने खास रामजीका अपराध किया।

दोहा—प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील-निधान॥ २९ (क)॥

शब्दार्थ—**प्रभु**=स्वामी। **तरु**=वृक्ष, पेड़, दरख्त। **तर**=तले, नीचे। **डार**=डाल, शाखा। **आपु**=अपने। शील—नोट ४ में देखिये।

अर्थ—स्वामी श्रीरामचन्द्रजी तो पेड़के नीचे और बन्दर डालपर! (अर्थात् कहाँ शाखामृग वानर और कहाँ सदाचारपालक पुरुषोत्तम भगवान् आर्यकुल-गौरव श्रीरामचन्द्रजी! आकाश-पातालका अन्तर! सो उन विजातीय विषमयोनि पशुतकको अपना लिया) उनको भी अपने समान (सुसभ्य) बना लिया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी-सरीखा शीलनिधान स्वामी कहीं भी नहीं है॥ २९ (क)॥

नोट—१ अब रक्षामें विश्वास 'रक्षिष्यतीति विश्वासः'—यह शरणागति दिखाते हैं। (करु०)

नोट—२ (क) ***'प्रभु तरु तर कपि डार पर'*** इति। पूर्व जो कह आये कि ***'रीझत राम जानि जन जी की'*** और ***'रहति न प्रभु चित चूक किये की'*** उसीके और उदाहरण देते हैं कि देखिये, प्रभु तो वृक्षके नीचे बैठे हैं और वानर उनके सिरपर उसी वृक्षके ऊपर बैठे हैं, उनको इतनी भी तमीज (विवेक) नहीं कि हम ऊँचेपर और फिर स्वामीके सिरपर ही बैठते हैं यह अनुचित है। ऐसे अशिष्ट वानरोंके भी इस अशिष्ट व्यवहारपर प्रभुने किञ्चित् ध्यान न दिया, किन्तु उनके हृदयकी ***'निकाई'*** ही पर दृष्टि रखी कि ये सब हमारे कार्यमें तन-मनसे लगे हुए हैं। यथा—***'चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह। रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥'*** (४। २३) इससे जनाया कि श्रीरामकार्यमें, श्रीरामसेवामें, श्रीरामप्रेममें मनको लवलीन कर शरीरकी सुध भुला देनेसे प्रभु प्रसन्न होते हैं। उस समय जो शरीरसे दोष या अपराध हो भी जाय तो प्रभु उसे स्वप्नमें भी नहीं देखते। (ख)—इस दोहेभरमें गोस्वामीजीने यहीं कहा है कि सेवकका अपराध प्रभु कभी नहीं देखते, केवल उसके हृदयकी प्रीति देखते हैं। प्रथम अपना हाल कहा फिर सुग्रीव और विभीषणजीका। अब वानर-भालु-सेनाका हाल कहते हैं कि उनके भी अशिष्ट व्यवहारको कभी मनमें न लाये, किन्तु उनके हृदयकी ***'निकाई'*** ही पर रीझे हैं।

नोट—३ ***'ते किय आपु समान'*** इति। उनको भी अपने समान बना लिया। ***'समान'*** बनाना कई प्रकारसे है—(क) विभीषणजीसे श्रीरामचन्द्रजीने कहा है कि ***'पिता बचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥'*** (लं० १०५) यहाँ वचन और मनसे समान होना जनाया। (ख) उनको अपना रूप भी दिया, यथा—***'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥'*** (७। ८। २) (ग) उनकी कीर्ति भी अपनी कीर्तिके सदृश कर दी। यथा—***'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार-सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥'*** (लं० १०५) (घ) सखा बनाया। यथा—***'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥'*** (७। ८) (ङ) वन्दन पाठकजी कहते हैं कि—'भरतजी श्रीरामजीके अंश हैं; इसलिये उनसे अधिक कहनेसे सिद्ध हुआ कि मेरे समान हैं, इसीपर सभाके सब लोग सुखमें मग्न हो गये। ***'सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। निमिष निमिष उपजत सुख नये॥'*** (७। ८)

नोट—४ ***'सील निधान'*** इति। —ऐसे बन्दरोंको भी कुछ न कहा, इसीसे जान पड़ा कि बड़े ही शीलवान् हैं। हीन, दीन, मलिन, कुत्सित, बीभत्स आदिके भी छिद्रोंको न देख उनका आदर करना 'शील' है। यथा—**'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥'** (भ० गु० द०; वै०)

ऊपर कहा है, ***'रीझत राम जानि जन जी की'*** यहाँ बन्दरोंके हृदयमें क्या अच्छी बात देखी? करुणा-सिन्धुजी लिखते हैं कि वे सब रामकाजमें तत्पर हैं, उन्हें ऊपर-नीचेकी सुधि नहीं। ***'मम हित लागि जनम इन्ह हारे।'*** (७। ८) यह श्रीमुखवचन है। प्रभुके प्रेममें वे घर भी भूल गये, यथा—***'प्रेम मगन नहिं गृह कै ईच्छा।'*** (६। ११७) ***'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।'*** (७। १६) इत्यादि।

नोट—५ गोस्वामीजीने पहले अपना हाल कहकर उदाहरणमें श्रीसुग्रीव और श्रीबिभीषणजीको दिया। दोनोंका मिलान इस प्रकार है—

गोस्वामीजी	सुग्रीव-विभीषणजी
१ *'अति बड़ि मोरि, ढिठाई खोरी'*	*'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥* सोइ करतूति बिभीषन केरी।'

२ *'सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने'*	*'सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥'*
३ कहनेमें नशानी, यथा—*'कहत नसाइ'*	इनकी करनी *'नशानी'*
४ 'मेरी भक्ति भरतजी इत्यादिके बीच सभामें बखानी (साकेतमें), यथा—*'सकल सभा लै उठी.....'*	*'ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥'*

☞ भक्तोंको इस दोहेमें उपदेश है कि हृदयकी निकाईसे श्रीरामजी रीझते हैं।

दोहा—राम निकाई रावरी, है सबही को नीक।
जौ यह साची है सदा तौ नीकौ तुलसीक॥ २९ (ख)॥

शब्दार्थ—**निकाई**=भलाई। **रावरी**=आपकी। **सदा**=सदैव, हमेशा। =आवाज, बात—यह अर्थ फारसी शब्द **'सदा'** का है। **तुलसीक**=तुलसीको।

अर्थ—हे श्रीरामचन्द्रजी! आपकी (यह, उपर्युक्त) भलाई सभीको अच्छी है; यदि यह सदा 'सच' है तो मुझ तुलसीदासको भी भली ही होगी॥ २९ (ख)॥

करुणासिन्धुजी—तो तुलसीको भी भली ही होगी। यह 'अचल विश्वास' है। यहाँतक गोस्वामाजीने परधारणा-संयुक्त षट्शरणागति वर्णन की।

नोट—१ *'निकाई'.....'नीक'*। आपकी भलाईसे सबका भला है, यथा—*'रावरी भलाई सबही की भली भई।'* (वि० २५२), *'तुलसी राम जो आदर्यो खोटो खरो खरोइ। दीपक काजर सिर धरो धरो सुधरो धरोइ॥', 'तनु बिचित्र कायर बचन अहि अहार मन घोर। तुलसी हरि भए पक्षधर ताते कह सब मोर॥'* (दोहावली १०६, १०७) अतएव मेरा भी भला होगा, यथा—*'लहइ न फूटी कौड़िहू को चाहै केहि काज। सो तुलसी मँहगो कियो राम गरीबनिवाज॥', 'घर घर माँगे टूक पुनि भूपनि पूजे पाय। जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय॥'* (दोहावली १०८, १०९), *'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई। हौं तो साईंदोही पै सेवकहितु साई॥'* (विनय० ७२)

पं० रामकुमारजी—सेवकका अपराध न देखना यह *'निकाई'* है, जैसा ऊपरसे दिखाते चले आये हैं। पुनः, यथा—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥'* इसीसे सबको नीक है।

नोट—२ *'सबही को नीक'* कहकर जनाया कि सुग्रीव, विभीषण और वानरसेना ही-मात्रके साथ *'निकाई'* बरती हो सो नहीं, सभीके साथ वे अपनी *'निकाई'* से भलाई करते आये और करते हैं। उत्तम, मध्यम, नीच, लघु कोई भी क्यों न हो।

दोहा—एहिं बिधि निज गुन दोष कहि सबहि बहुरि सिरु नाइ।
बरनउँ रघुबर बिसद जसु सुनि कलि कलुष नसाइ॥ २९ (ग)॥

अर्थ—इस तरह अपने गुण-दोष कहकर और सबको फिर माथा नवाकर (प्रणाम करके) श्रीरघुनाथजीके निर्मल यशको वर्णन करता हूँ—जिसके सुननेसे कलियुगके पाप नाश होते हैं॥ २९(ग)॥

नोट—१ (क) *'एहिं बिधि'* =इस प्रकार, जैसा ऊपर कह आये हैं। (ख) *'निज गुन दोष'* इति। अपने गुण-दोष। गुण यह कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका सेवक हूँ, मुझे उन्हींकी कृपालुताका बल-भरोसा है, यथा— *'हौंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास। साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास॥'* (२८ ख), *'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥', 'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।'* (२८ क) *'राम निकाई रावरी है सबही को नीक। जौ यह साची है सदा तौ नीकौ तुलसीक॥'* (२९ ख)—यह अनन्य

शरणागति, रक्षाका दृढ़ विश्वास ही गुण है, जो आपने कहे हैं। *'निज दोष'*, यथा— *'को जग मंद मलिन मति मोते'*, *'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी,'* *'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो,'* *'तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धींग धरमध्वज धंधक धोरी॥'* (१। १२) पुनः *'निज गुन दोष'*, यथा—*'है तुलसी कें एक गुन अवगुन निधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो राम रीझिबे जोग॥'* (दोहावली ८५) मा० प्र० में *'निज'* पद-गुन और दोष, दोनोंमें अलग-अलग लगाकर *'निज गुन'* का अर्थ यों भी किया है कि *'निज'* अर्थात् अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके गुण और *'निज दोष'* अर्थात् अपने दोष। ऐसा जान पड़ता है कि यह भाव दोहावलीके ७७वें दोहे—*'निज दूषन गुन राम के समुझें तुलसीदास। होइ भलो कलिकालहूँ उभय लोक अनयास॥'* के आधारपर लिखा गया है। परन्तु दोहावलीहीमें दोहा ९६ है जो यहाँके दोहेसे मिलता है। यथा—*'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष। होय दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'* दोहा ७७में उपदेश है कि अपने दोषोंको समझे और श्रीरामजीके गुणोंको समझा करे, अपनेमें कभी गुण न समझे। और दोहा ९६में उपदेश है कि प्रभुसे जब कहे तब अपने गुण-दोष सब कह दे। ☞ इसीपर गोस्वामीजीने विनयमें अपने गुण भी कहे हैं; यथा—*'निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहिं छोरि।'* (पद १५८) *'तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरो और न काहू केरो।'* (पद १४५) *'सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है। है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है।'* (पद १७०) *'खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु, रीझिबे लायक तुलसीकी निलजई॥'* (पद २५२) *'तुलसिदास कासों कहै तुमही सब मेरे प्रभु गुरु-मातु-पितै हो।'* (पद २७०) इत्यादि। दोहावलीमें भी कहा है—*'है तुलसी कें एक गुन अवगुन निधि कहैं लोग'* जैसा ऊपर कह आये हैं।

बैजनाथजीने *'गुणदोष'* के ये अर्थ कहे हैं—(१) दोषरूपी गुण। (२) शरणागतिरूपी गुण और सब दोष। (३) शरणागति करके अपने दोष ठीक-ठीक कहनेसे स्वामी प्रसन्न होकर गुण मान लेते हैं, दोष भी प्रभुकी कृपासे गुण हो जाते हैं, अतः *'गुणदोष'* कहा।

नोट—२ अपने गुण-दोष क्यों कहे ? इस प्रकरणमें एक चौपाईका सम्बन्ध दूसरीसे ऊपर कहते आये हैं।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'निज गुण श्रीरामजीके रीझने योग्य है, इसलिये गुण कहे। दोष कहनेका कारण दोहावलीके दोहा ९६में है, यथा—*'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष। होय दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'* विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि कोई-कोई शङ्का कर बैठते हैं कि 'गोस्वामीजीने अपने ही मुँहसे अपने गुणका कथन क्यों किया ?' और फिर उसका समाधान यों करते हैं कि उन्होंने लोगोंकी कथनप्रणालीके अनुसार ऐसा कहा है। लोग प्रायः प्रत्येक वस्तुके बारेमें प्रश्न करते समय उसके गुण-दोष पूछते हैं। क्योंकि गुण-दोष प्रायः सभीमें पाये जाते हैं। जैसा कह आये हैं कि *'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार'* आदि। इसके सिवा तुलसीदासजीने भी अपनी कविताके बारेमें यों कहा है कि *'भनित मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक'* आदि। और वह गुण यह है कि *'एहि महँ रघुपति नाम उदारा'*। बस, इन्हीं आधारोंसे कविजी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका सेवक समझ इस बातपर विश्वासकर लिखते हैं कि *'राम निकाईं……'*। भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजीने मुझे अपना लिया है; नहीं तो मैं इस ग्रन्थके लिखनेमें सामर्थ्यवान् न हो सकता। यदि वे मेरे चित्तमें ऐसे विचार उत्पन्न कर देते कि मैं रामचरित्रोंको लिख ही नहीं सकता।

पं० रामकुमारजी—*'बहुरि सिर नाइ'* इति। फिरसे सबको माथा नवानेका भाव यह है कि सबकी वन्दना कर चुके तब नामकी बड़ाई की; श्रीरामजीको माथा नवाकर रूपकी बड़ाई की। यथा—*'करिहउँ नाइ राम पद माथा।'* सबको सिर नवाकर लीलाकी बड़ाई की है; यथा—*'बरनउँ रघुबर बिसद जस।'* इसी तरह फिर सबको सिर नवाकर आगे धामकी बड़ाई की है, यथा—*'पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी।'* (१। ४)

नोट—३ *'सुनि कलिकलुष नसाइ'* इति। रघुवरयश निर्मल है, विशद है, इसलिये उससे कलिकलुषका

नाश होता है, यथा—'*सोइ स्वच्छता करइ मल हानी*', '*रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥*' (उ० १३०) '*बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥*' (१। ३५) इत्यादि।

निज कार्पण्य वा षट्शरणागति तथा श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण समाप्त हुआ।

******

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥ १॥
कहिहौं सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी॥ २॥

☞किसी-किसी महानुभावका मत है कि श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसके आचार्योंकी परम्परा यहाँसे कहते हैं और बताते हैं कि किस तरह उनको रामचरित प्राप्त हुआ। पर दासकी समझमें इसे परम्परा तभी कह सकते जब श्रीशिवजीसे श्रीशिवा-(पार्वती-) जीने और श्रीपार्वतीजीसे श्रीभुशुण्डिजीने पाया होता। यह भले ही कह सकते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतादि पुराणोंकी कथाकी जो शैली है, जो क्रम व्यासजीका है, उसीका अनुसरण करते हुए यह दिखाया है कि जो कथा हम कहते हैं इसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई, इसके वक्ता-श्रोता कौन थे और हमको कैसे प्राप्ति हुई। भा० स्कन्ध १ अध्याय ४ में ऋषियोंके ऐसे ही प्रश्न हैं—'**कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना। ततः सञ्चोदितः कृष्णः (व्यासः) कृतवान् संहितां मुनिः॥**'(३) अर्थात् यह कथा किस युगमें, किस कारणसे, किस स्थानपर हुई थी और व्यासजीने किसकी प्रेरणासे इस संहिताको रचा था ? विशेष दोहा ३० '*मैं पुनि निज गुर*......' में देखिये।

अर्थ—श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने जो सुहावनी कथा मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीको सुनायी, वही संवाद मैं बखानकर (विस्तारपूर्वक) कहूँगा। आप सब सज्जन सुख मानकर सुनें॥ १-२॥

टिप्पणी—१ गोस्वामीजीने पहिले चारों संवादोंका बीज बोया है, तब चारों संवाद कहे हैं। पहिले अपने संवादका बीज बोते हैं, यथा—'*तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥*......।' (१। १३) '*सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥*' (९) और कथा आगे कहते हैं, यथा—'*कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥*' (३५) फिर '*जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज*......।' में भरद्वाज-याज्ञवल्क्यके संवादका बीज बोया। कथा आगे कहते हैं, यथा—'*अब रघुपति पद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद॥*' (४३) तत्पश्चात्, '*कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥*' (३३। १) में शिव-पार्वती-संवादका बीज है; आगे कथा कहते हैं, यथा—'*कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।*' (१। ४७) और '*सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥*' (१। १२०) में भुशुण्डि-गरुड़-संवादका बीज बोया और कथा उत्तरकाण्डमें कही है। यथा—'*भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुन गाहा॥*' (७। ६४। ६)

मा० म०—'गोस्वामीजीके कहनेका यह तात्पर्य है कि इस रामचरितमानसमें चार घाट हैं जो आगे कथन करेंगे। उन चारोंमें दक्षिण घाट कर्मकाण्डमय याज्ञवल्क्यजीका है। अतः ग्रन्थकारका यह अभिप्राय है कि मैं सुलभ दक्षिण घाटसे रामचरितमानससरमें सज्जनोंके सहित प्रवेश करता हूँ। इसकी अगम तरङ्गोंमें विधिपूर्वक क्रीड़ा-विनोद करूँगा। अर्थात् इसमें कोई गोपनीय तत्त्व मैं कथन किये बिना नहीं छोड़ूँगा। जो अनुभवगम्य है, अनिर्वाच्य है, उसे तो सज्जनोंको स्वयं अनुभव करना होगा। जो कथन किया जा सकता है उसे कहता हूँ। सब सज्जन उसे सुखपूर्वक सुनें।'

नोट—१ याज्ञवल्क्यजी ब्रह्माजीके अवतार हैं। इनकी कथा स्कन्दपुराणके हाटकेश्वरक्षेत्रमाहात्म्यके प्रसंगमें इस प्रकार है—किसी समयकी बात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजीकी पत्नी सावित्रीजीको

आनेमें देर हुई और शुभ मुहूर्त बीता जा रहा था। तब इन्द्रने एक गोपकन्या (अहीरिन) को लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहणकर यज्ञ आरम्भ कीजिये। पर ब्राह्मणी न होनेसे उसको ब्रह्माने गौके मुखमें प्रविष्टकर योनिद्वारा निकालकर ब्राह्मणी बना लिया; क्योंकि ब्राह्मण और गौका कुल शास्त्रमें एक माना गया है। फिर विधिवत् उसका पाणिग्रहणकर उन्होंने यज्ञारम्भ किया। यही गायत्री है। कुछ देरमें सावित्रीजी वहाँ पहुँचीं और ब्रह्माके साथ यज्ञमें दूसरी स्त्रीको बैठे देख उन्होंने ब्रह्माजीको शाप दिया कि तुम मनुष्यलोकमें जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना सम्बन्ध ब्रह्मासे तोड़कर वह तपस्या करने चली गयी। कालान्तरमें ब्रह्माजीने चारणऋषिके यहाँ जन्म लिया। वहाँ याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होनेपर वे शापवशात् अत्यन्त कामी हुए जिससे पिताने उनको निकाल दिया। पागल-सरीखा भटकते हुए वे चमत्कारपुरमें शाकल्य ऋषिके यहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय आनर्त्तदेशका राजा चातुर्मास्यव्रत करनेको वहाँ प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजा-पाठके लिये शाकल्यको पुरोहित बनाया। शाकल्य नित्यप्रति अपने यहाँका एक विद्यार्थी पूजा-पाठ करनेको भेज देते थे, जो पूजा-पाठ करके राजाको आशीर्वाद देकर दक्षिणा लेकर आता था और गुरुको दे देता था। एक बार याज्ञवल्क्यजीकी बारी आयी। यह पूजा आदि करके जब मन्त्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गये तब वह राजा विषयमें आसक्त था, अतः उसने कहा कि यह लकड़ी जो पास ही पड़ी है इसपर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोधमें आ आशीर्वादके मन्त्राक्षत काष्ठपर छोड़कर चले गये, दक्षिणा भी नहीं ली। मन्त्राक्षत पड़ते ही काष्ठमें शाखापल्लव आदि हो आये। यह देख राजाको बहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे सिरपर पड़ते तो मैं अजर-अमर हो जाता। राजाने शाकल्यजीको कहला भेजा कि उसी शिष्यको भेजिये। परन्तु इन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया इससे हम न जायँगे। तब शाकल्यने कुछ दिन और विद्यार्थियोंको भेजा। राजा विद्यार्थियोंसे दूसरे काष्ठपर आशीर्वाद छुड़वा देता। परन्तु किसीके मन्त्राक्षतसे काष्ठ हरा-भरा न हुआ। यह देख राजाने स्वयं जाकर आग्रह किया कि याज्ञवल्क्यजीको भेजें, परन्तु इन्होंने साफ जवाब दे दिया। शाकल्यको इसपर क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि—'**एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥**' (८५) अर्थात् गुरु जो शिष्यको एक भी अक्षर देता है पृथ्वीमें कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो शिष्य देकर उससे उऋण हो जाय। उत्तरमें याज्ञवल्क्यजीने कहा—'**गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते॥**' (८८) अर्थात् जो गुरु अभिमानी हो, कार्य-अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नहीं) को नहीं जानता हो ऐसे दुराचारीका चाहे वह गुरु ही क्यों न हो परित्याग कर देना चाहिये। तुम हमारे गुरु नहीं, हम तुम्हें छोड़कर चल देते हैं। यह सुनकर शाकल्यने अपनी दी हुई विद्या लौटा देनेको कहा और अभिमन्त्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन कर दो। याज्ञवल्क्यजीने वैसा ही किया। अन्नके साथ वह सब विद्या उगल दी। विद्या निकल जानेसे वे मूढ़बुद्धि हो गये। तब उन्होंने हाटकेश्वरमें जाकर सूर्यकी बारह मूर्तियाँ स्थापित करके सूर्यकी उपासना की। बहुत काल बीतनेपर सूर्यदेव प्रकट हो गये और वर माँगनेको कहा। याज्ञवल्क्यजीने प्रार्थना की कि मुझे चारों वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़ा दीजिये। सूर्यने कृपा करके उन्हें मन्त्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारण कर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीरसे हमारे रथके घोड़ेके कानमें बैठ जाओ, हमारी कृपासे तुम्हें ताप न लगेगी। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम बैठे सुनना। इस तरह चारों वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़कर सूर्यदेवसे आज्ञा लेकर वे शाकल्यके पास आये और कहा कि हमने आपको दक्षिणा नहीं दी थी, जो माँगिये वह हम दें। उन्होंने सूर्यसे पढ़ी हुई विद्या माँगी। याज्ञवल्क्यजीने वह विद्या उनको दे दी। (नागरखण्ड अ० २७८) इनकी दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनीके पुत्र कात्यायन हुए। (अ० १३०) लगभग यही कथा अ० १२९ व १३० में भी है। विशेष दोहा (४५। ४ व ८) में देखिये।

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—(१) छान्दोग्य-उपनिषद्में इनकी बड़ी महिमा लिखी है। इन्होंने जनकमहाराजकी सभामें छः मासतक शास्त्रार्थ किया है। ये धर्मशास्त्रादिके प्रधान विद्वान् हैं। भगवान्के

ध्यानमें समाधि लगानेमें अद्वितीय योगी हैं, इसीलिये इन्हें 'योगियाज्ञवल्क्य' कहते हैं। भगवद्भक्तोंमें प्रधान होनेसे पहले याज्ञवल्क्यका नाम लिया। प्रयागमें ऋषिसभाके बीच प्रथम रामचरित्रके लिये भरद्वाजहीने प्रश्न किया, इसलिये प्रधान श्रोता भरद्वाजका प्रथम नामोच्चारण किया। (२) *'सुख मानी'* इति। सुख माननेका भाव यह है कि वह कथा संस्कृतके गद्य-पद्यमें होनेसे दु:खसाध्य थी और मेरी रचना तो देशभाषामें होनेसे सबको अनायास सुखसे समझमें आवेगी।

सूर्यप्रसाद मिश्र—भरद्वाजजीको मुनिवर कहनेका आशय यह है कि इन्होंने रामकथा सुनी, इसीसे मुनिवर हुए।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ ३॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥ ४॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥ ५॥

अर्थ—श्रीशिवजीने यह सुन्दर चरित रचा। फिर कृपा करके श्रीपार्वतीजीको सुनाया॥ ३॥ वही चरित शिवजीने काकभुशुण्डिजीको श्रीरामभक्त और अधिकारी (पात्र) जानकर दिया॥ ४॥ उनसे फिर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने पाया और इन्होंने (उसे) भरद्वाजजीसे कह सुनाया॥ ५॥

टिप्पणी—१(क) 'कथाको *'सुहाई'* और चरितको *'सुहावा'* स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गभेदसे कहा है। कथा और चरित दोनोंका बीज बोते हैं क्योंकि आगे दोनोंका माहात्म्य कहना चाहते हैं। पहिले कथा कही, पीछे चरित कहा। इसी क्रमसे ग्रन्थकी परम्परा कहकर फिर माहात्म्य कहेंगे। यहाँसे दोहेतक परम्परा है।' (ख)*'सुहावा'* अर्थात् औदार्यादि गुणसहित और अनर्थक आदि दोषरहित है। (बैजनाथजी लिखते हैं कि जैसे शिवजीने लोक-सुखके लिये शाबरमन्त्र सिद्धरूप बनाये, वैसे ही लोक-परलोक दोनों सुखके लिये मानस रचा, यथा—*'सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं॥'* (७। १५) सुखदायक होनेसे सब जगको प्रिय है। अत: *'सुहावा'* कहा।)

टिप्पणी २—*'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।'''''* इति। बालकाण्डमें तीन ही संवाद हैं; इसलिये तीनका नाम दिया। भुशुण्डि-गरुड़-संवाद उत्तरकाण्डमें है, इसलिये भुशुण्डिजीका गरुड़जीसे कहना यहाँ नहीं लिखा।

नोट—१ शिवजीने पार्वतीजी और काकभुशुण्डिजीको यह रामचरित दिया। पार्वतीजीको *'कृपा करि'* देना लिखते हैं और भुशुण्डिजीको *'राम भगत अधिकारी'* जानकर देना कहा है। याज्ञवल्क्यजी और भरद्वाजजीको देनेका कारण नहीं लिखते। पं० रामकुमारजी इस भेदका भाव यह लिखते हैं कि 'पार्वतीजीके अधिकारी होनेमें सन्देह था—**'स्त्रीशूद्रौ माधीयाताम्' इति श्रुतिः**। पुनः पार्वतीजीका वचन है कि *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥ गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥'* (बा० ११०) इसलिये कृपा करके सुनाना लिखा *'कृपा'* पद देकर यह भी जनाया कि ईश्वरके कृपापात्र अधिकारी हैं। भुशुण्डिजीके अधिकारमें सन्देह था, यथा—*'देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर भजन अधिकारी॥' 'सकुनाधम सब भाँति अपावन।'* (उ० १२३) इसलिये रामभक्त-अधिकारी लिखा। रामभक्तको अधिकार है, चाहे जिस योनिमें हो, चाहे जिस जातिका हो, जैसा कहा है कि *'ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई॥'* (७। १२८) भरद्वाज-याज्ञवल्क्यजी पूर्ण अधिकारी हैं इसलिये उनके अधिकारका हेतु नहीं कहा।

नोट—२ यहाँ गोस्वामीजी लिखते हैं कि *'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा'* और उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजी लोमश ऋषिसे पाना कहते हैं, यथा—*'मेरु सिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन।''''''मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥'* (उ०११०, ११३) यह परस्पर विरोध-सा दीखता है, परन्तु ध्यान देनेसे समझमें आ जायगा कि कोई विरोध इन दो चौपाइयोंमें नहीं है। इस चौपाईका *'दीन्हा'* पद गूढ़ता और अभिप्रायसे भरा है। गोस्वामीजीने यह शब्द रखकर अपनी सावधानी दिखायी है।

श्रीशिवजीने भुशुण्डिजीको आशीर्वाद दिया था कि—*'पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम भगति उपजिहि उर तोरें॥'* (उ० १०९) जब इनमें रामभक्तिके चिह्न पूरे आ गये, यथा—*'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ सो उपदेस कहहु कर दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥'*..... *'पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोले बचन सकोपा॥'*.....*'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला॥ लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥ तुरत भयउ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ। सुमिरि राम रघुबंसमनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥ उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥ सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन॥ कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥'*.....*'रिषि मम सहनसीलता देखी। रामचरन बिस्वास बिसेखी॥'* (उ० ११२, ११३) इस तरह जब पूरी परीक्षा इनकी मिल गयी तब शिवजीने रामचरितमानस इनको दिया। कोई चीज किसीको देना हो तो उसके दो तरीके हैं—एक तो स्वयं देना, दूसरे किसी औरके द्वारा भेजना। जिसके द्वारा चीज दी जाती है वह मुख्य देनेवाला नहीं है। वही रीति यहाँ जानिये। देखिये लोमशजीने भुशुण्डिजीसे यह कहा भी है कि—*'रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥ तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥'* (उ०११३) और यहाँ भी गोस्वामीजीने *'राम भगत अधिकारी चीन्हा'* लिखा है।

'दीन्हा' शब्दका प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया। सुनाना या कहना इत्यादि पद न दिया। क्योंकि कहना, सुनाना कहने और सुननेवालेका समीप ही होना सूचित करता है। उमाजीको *'सुनावा'* और भरद्वाजप्रति *'गावा'* लिखा है।

पं० शिवलाल पाठकजी इस शङ्काका समाधान इस प्रकार करते हैं—*'मुनि लोमश गुरु ते बहुरि, शिव सद्‌गुरु ढिग जाय। लहे सबिधि सह ग्रंथ तब यह मत लखे लखाय॥'* (अ० दीपक ४४) श्रीजानकीशरणजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि उत्तरकाण्डमें *'रामचरितमानस तब भाषा'* कहा है और यहाँ *'दीन्हा'* पद दिया है। इसमें भाव यह है कि लोमशजीने कथामात्र सुनायी और शिवजीने मानसग्रन्थका प्रयोग, मन्त्र, यन्त्र-विधिसहित दिया। भाव यह कि लोमशजी भुशुण्डिजीके मन्त्रदाता गुरु थे और शिवजी सद्‌गुरु थे। 'श्रीरामतत्त्वादिका उपदेशपूर्वक भक्ति तथा ज्ञानमार्गका बताना सद्‌गुरुका काम है।' श्रीकबीरजीने भी कहा है—*'गुरु मिले फल एक है, संत मिले फल चारि। सद्‌गुरु मिले अनेक फल कहे कबीर बिचारि॥'* बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि परम्परासे शिवजीका देना सिद्ध है; अथवा लोमशजीसे सुननेके पीछे शिवजीसे भी सुना हो।

नोट—३ कहा जाता है कि शिवजीहीसे भुशुण्डिजीको रामचरितमानस मिला, भुशुण्डिरामायण (आदिरामायण) से भी सिद्ध होती है। उसमें कहा जाता है कि भुशुण्डिजीने स्वयं यह बात कही है। पुनः, देखिये जब श्रीअवधपुरीमें बालक रामललाजीके दर्शनोंकी अभिलाषासे श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डिजी आये तो गुरु-शिष्यरूपसे आये थे, जैसा गीतावलीसे सिद्ध है। यथा—*'अवध आज आगमी एक आयउ।*......*बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। संग सुसिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥'* (बा० पद १४) पुनः, यथा—*कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ॥*......'(१। १९६) सम्भव है कि पं० शिवलाल पाठकजीने भुशुण्डिरामायणके आधारपर शिवजीका देना लिखा हो, परन्तु गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें यह बात किस तरहसे दिया उत्तरकाण्डहीमें दर्शाया है।

☞ हमको यहाँपर इस प्रश्न वा शङ्काके उठानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती कि 'जो क्रम यहाँ गोस्वामीजीने दिया है वह ठीक ऐसा ही है या इसमें उलट-फेर है।' क्योंकि यहाँ ग्रन्थकारके लेखका केवल यह तात्पर्य है कि हमको शिवकृतमानस क्योंकर मिला। श्रीपार्वतीजी परम्पराके बाहर हैं क्योंकि श्रीपार्वतीजीसे किसीको पाना नहीं कहा गया। परम्परामें पूर्वापर क्रम जरूरी है। यहाँ केवल इतना दिखाना है कि शिवजीसे भुशुण्डिजीने पाया, उनसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने और याज्ञवल्क्यजीसे श्रीभरद्वाजजीने

पाया, हमको अपने गुरुदेवजीसे मिला। अन्यत्र इस प्रश्नपर विचार किया गया है, परन्तु लोगोंने यहाँ यह शङ्का की है अतः उसपर कुछ लिखा जाता है।

पं० शिवलाल पाठकके मतानुसार 'शिवजीने काकभुशुण्डिजीको दिया, फिर काकभुशुण्डिजीसे स्वयं सुनकर तब पार्वतीजीको सुनाया। इस बातके प्रमाणमें वे यह कहते हैं कि कथा कहनेमें शिवजीने बारम्बार काकभुशुण्डिजीको साक्षी दिया है और भुशुण्डिजीने शिवजीको साक्षी नहीं दिया। इसी तरह याज्ञवल्क्यजीने शिवजीसे पाया, अतएव इन्होंने शिवजी और भुशुण्डिजी दोनोंको साक्षी दिया है। यथा—'***शंकर साखी देत हैं काक काक ना शंभु। लहे यागवलि शंभु ते साखी दे हैं कंभु॥***' इसका निष्कर्ष यह है कि यदि याज्ञवल्क्यजी भुशुण्डिजीसे पाते तो केवल उन्हींकी साक्षी देते, शिवपार्वती-संवादकी न देते। मुं० रोशनलालजीने भी याज्ञवल्क्यजीका श्रीशिवजीसे पाना लिखा है।—प्राय: अन्य सभी प्रसिद्ध टीकाकारोंका मत यह नहीं है, '*तेहि*' शब्द शिवजीके लिये नहीं है, किन्तु काकभुशुण्डिजीके लिये है।

ते श्रोता बकता समसीला। सँबँदरसी* जानहिं हरिलीला॥ ६॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना॥ ७॥

शब्दार्थ-**श्रोता**=सुननेवाले। **बकता**=वक्ता, कथा कहनेवाले। **सँबँदरसी**= सर्वदर्शी=सर्वज्ञ। **आमलक**=आँवलाके। दर्पणके। **समसीला**=समशील, तुल्यस्वभाव। **गत**=प्राप्त=रखा हुआ।

अर्थ—ये कहने-सुननेवाले एक-से शीलवान् हैं, सर्वज्ञ हैं और हरिलीलाको जानते हैं॥ ६॥ अपने ज्ञानसे तीनों कालों-(भूत, भविष्य, वर्तमान-) का हाल हथेलीमें प्राप्त आमलकके समान जानते हैं॥ ७॥

नोट—१(क) '***सँबँदरसी***' अर्थात् सर्वज्ञ हैं, इसीसे हरिलीला जानते हैं। सन्त श्रीगुरुसहायलाल '***सबँदरसी***' का भाव यह लिखते हैं कि जो लीला केवल अनुभवात्मक है उसको भी जानते हैं। (ख) '***जानहिं तीनि काल***' अर्थात् त्रिकालज्ञ हैं, इसलिये उनको कथामें सन्देह नहीं होता। आगे कहते हैं कि श्रोता-वक्ता ज्ञाननिधि होने चाहिये। इनको त्रिकालज्ञ कहकर इनका '***ग्यान निधि***' होना सूचित किया। (ग) सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि परम्परासे यह कथा रामभक्तोंके द्वारसे याज्ञवल्क्य और भरद्वाजको प्राप्त हुई, इसलिये बराबर निर्मल जनोंके बीचमें रहनेसे इस कथामें अशुभ वस्तुकी एक बूँद भी न पड़ी। कदाचित् याज्ञवल्क्य और भरद्वाजके बीचमें कुछ कलङ्क होनेसे (क्योंकि याज्ञवल्क्यने अपने गुरुसे द्रोह किया था और भरद्वाज दो पुरुषोंके वीर्यसे उत्पन्न हुए हैं।) यह कथा कलुषित हो गयी हो, इसपर कहते हैं कि वे वक्ता और श्रोता समशील इत्यादि हैं, इन कारणोंसे वे निष्कलङ्क हो गये हैं।

टिप्पणी—१ (क) ग्रन्थकारने वक्ता-श्रोता दोनोंको समशील कहा ही, नहीं बल्कि अपने अक्षरोंसे भी उनकी समशीलता दिखा दी है। इस तरहसे कि पहिले तीन चौपाइयोंमें वक्ताओंके नाम प्रथम देकर तब श्रोताओंके नाम दिये हैं, यथा—'***संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥***', '***सोइ सिव कागभुसुंडिहि......***', '***तेहि सन जागबलिक......***', '***तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।***' और तत्पश्चात् दूसरी बार '***श्रोता***' पद पहिले दिया और '***बकता***' पीछे। यथा '***ते श्रोता बकता सम......।***' इस तरह दोनोंको बराबर जनाया। ['***समसील***' अर्थात् एक-से-एक शीलवान्। वा, श्रोता श्रवणमें परस्पर तत्पर, वक्ता परस्पर कथनमें कुशल। अथवा जैसे शङ्करजी ज्ञानी, याज्ञवल्क्यजी भगवत्सम्बन्धी कर्मकाण्डी और भुशुण्डिजी उपासनाकाण्डवाले वक्ताओंमें शिरोमणि, वैसे ही पार्वतीजी ज्ञानी, भरद्वाजजी कर्मकाण्डी और गरुड़जी उपासक श्रोताओंमें शिरोमणि। (मा०मा०)](ख) '***निज ग्याना***' अर्थात् किसीके अवलम्बसे नहीं जानते, अपने ज्ञानसे जानते हैं।

नोट—२ (क) '***आमलक समाना***' अर्थात् जैसे आमला हाथकी हथेलीपर रखनेसे वह पूर्ण रीतिसे रेशा-रेशा दिखलायी देता है, इसी प्रकार तीनों काल उनके नेत्रके सम्मुख हैं, सब हाल इनको प्रत्यक्ष-

* 'सभदरसी' इसका पाठान्तर है जो प्राचीन पुस्तकोंमें भी मिलता है। आधुनिक प्रतियोंमें कहीं-कहीं 'समदरसी' पाठ मिलता है। १७०४ में भी 'समदरसी' है। (शं० चौ०) परन्तु रा० प्र० में 'सबदरसी' ही है।

सा देख पड़ता है। तीनों कालके पदार्थोंके सब अवयव देख पड़ते हैं। (ख) रा० प्र० में आमलकका अर्थ 'जल' भी किया है और यह भाव दिया है कि जैसे जल हाथमें प्राप्त हो तो उसका ज्ञान निरावरण होता है वैसे ही इनको तीनों कालोंका ज्ञान है। अथवा जैसे हथेलीपर स्वच्छ जल रखनेसे साफ-साफ हथेलीकी रेखाएँ कुछ मोटी-मोटी ऊपरसे झलकती हैं, उसी प्रकार उनको त्रिकालके पदार्थ साफ-साफ दीखते हैं। यहाँ वे *'आमलक='*स्वच्छ जल-सरीखा' ऐसा अर्थ करते हैं। (ग) मानसतत्त्वविवरणमें *'आमलक'* का अर्थ 'दर्पण' भी दिया है और प्रमाणमें शेषदत्तजीकी व्याख्या जो **'करामलकवद्विश्वं भूतं भव्यं भविष्यवत्'** श्रीमद्भागवतवाक्यपर है, देते हैं।

☞आमलकका अर्थ 'आँवला' लेनेपर 'तीन काल' उपमेय और 'करतलगत आमलक' उपमान है। 'जानना' निरावरण देख पड़ना है। तथा 'निज ज्ञान' अपने 'नेत्र' हैं। और, उसका अर्थ 'दर्पण' लेनेपर 'तीन काल' उपमेयका उपमान 'मुख' होगा और 'निज ज्ञान' का उपमान 'करतलगत आमलक' होगा। इसका भावार्थ यों होगा कि वे तीनों कालोंकी बातें अपने ज्ञानसे इस प्रकार देख लेते हैं जैसे अपने हाथमें लिये हुए दर्पणसे मनुष्य अपना मुख देख लेता है। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'शिवादिका ज्ञान दर्पण है और श्रीरघुनन्दन-जानकीजीका यश मुखवत् है। जैसे दर्पण हाथमें लेनेसे अपना मुख यथार्थ मालूम होता है, ऐसे ही जब ये ज्ञानानन्दमें स्थित होते हैं तब परमानन्दसंयुक्त श्रीजानकी-रघुवरका यश विधानपूर्वक जिह्वाग्रपर आ जाता है।' इस तरह आपके मतानुसार 'श्रीरघुवर-जानकीयश' अपना मुख है (और अर्धालीमें 'तीन काल' का जानना लिखा है)। आप लिखते हैं कि 'निज-ज्ञानके विषय जो श्रीरघुनन्दनजानकी रहस्य कर आये हैं और कर रहे हैं तथा करेंगे, उसको अच्छी प्रकार जानते हैं।'

☞श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० ५ में भी यह प्रयोग आया है। नारदजी ब्रह्माजीसे कहते हैं—**'सर्वं ह्येतद्भवान्वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः। करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव॥ ३॥'** अर्थात् आप यह सब जानते हैं, क्योंकि भूत, भविष्यत्, वर्तमान सबके स्वामी होनेसे यह सम्पूर्ण विश्व हाथपर रखे हुए आँवलेके समान आपके ज्ञानका विषय है।—यही भाव यहाँ इस अर्धालीका है।

टिप्पणी—२ यहाँ *'करतलगत आमलक समाना।'* कहा और अयोध्याकाण्डमें कहा है कि *'जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना।'* (२। १८२) त्रिकालका जानना पथ्य है और 'आमला' भी पथ्य है, यथा—**'धात्री फलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।'** इसलिये पथ्यफलकी उपमा दी। 'बेर' कुपथ्य है और संसार भी कुपथ्य है; इससे वहाँ विश्वको बेरकी उपमा दी। विशेष अ० १८२ (१) में देखिये।

औरौ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥ ८॥

अर्थ—और भी जो सुजान हरिभक्त हैं वे अनेक प्रकारसे कहते, सुनते, समझते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'औरौ'* पद देकर सूचित किया कि भरद्वाजजीसे और मुनियोंने प्रयागराजमें सुना, क्योंकि वहाँ तो हर साल (प्रतिवर्ष) मुनियोंका समाज उनके आश्रमपर आता ही था। इनसे फिर औरोंने सुना और उनसे दूसरोंने।

टिप्पणी—१ (क) 'उत्तम कोटिके वक्ताओं-श्रोताओंके नाम कहकर अब मध्यम कोटिके कहते हैं। क्योंकि ये नाना विधिसे सब शङ्काएँ समझते हैं तब समझ पड़ती हैं। इससे ग्रन्थकी गम्भीरता दिखायी कि यह ईश्वरका बनाया हुआ है, अत्यन्त गम्भीर है।' (ख) 'यहाँतक श्रोता-वक्ताकी समशीलता कही, आगे अपने गुरुसे अपनेको न्यून कहते हैं, क्योंकि गुरुसे न्यून होना उचित है।' (ग) —*'कहहिं'*...... ' इति। अर्थात् श्रोतासे कहते, वक्तासे सुनते हैं और श्रोता-वक्ताके अभावमें समझते हैं, यथा—*'हरि अनंत हरि कथा अनंता।'*

नोट—२*'कहहिं'* इति। कथन अर्थात् व्याख्या छः प्रकारसे की जाती है। यथा—**'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपश्च समाधानं षड्धा व्याख्यानमुच्यते॥'** अर्थात् पदच्छेद (वाक्यके पदोंको अलग-अलग करना, शब्दार्थ, विग्रह (**समासार्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः।** अर्थात् समासयुक्त

पदोंका बोधक वाक्य), अन्वय, आक्षेप (जो शङ्काएँ उस विषयपर किसीने की हों अथवा जो शङ्काएँ हो सकती हैं उनका उल्लेख) और समाधान—व्याख्याके ये छः भेद हैं। *'कहहिं'* शब्दसे इस प्रकार व्याख्या करना जनाया।

टिप्पणी २—*'सुनहिं समुझहिं बिधि नाना'* इति। कथा कही-सुनी जाती है और अर्थ एवं भाव समझा जाता है। कहना-सुनना तो 'नाना विधि' से होता ही है, पर *'समुझहिं बिधि नाना'* का क्या भाव है? उत्तर—अर्थका समझना भी आठ प्रकारसे होता है। यथा—'**ध्वनिशब्दाक्षरव्यङ्ग्यभावावर्त्तपदोक्तिभिः। अर्था वैयासकिप्रोक्ता बोध्यास्तेषु मनीषिभिः॥**' (भागवत पञ्चाध्यायी, सरसीटीका) अर्थात् ध्वनि, शब्दोंकी योजना, अक्षरोंकी योजना, व्यंग्य, भाव, आवर्त्त, पद और उक्ति—इन आठ भेदोंसे कथाका रहस्य बुद्धिमानोंको समझना चाहिये। ऐसा व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने कहा है। आठोंकी व्याख्या इस प्रकार है—'**वक्ता स्वार्थं समुद्वीक्ष्य यत्र तद्गुणरूपकम्। स्वच्छमुत्सिच्यमानं च ध्वन्यर्थः स उदाहृतः॥ रूढ्यर्थं सम्परित्यज्य धातुप्रत्ययोर्बलात्। युज्यते स्वप्रकरणे शब्दार्थः स उदाहृतः॥ प्रसिद्धार्थं परित्यज्य स्वार्थे व्युत्पत्तियोजना। परभेदो न यत्र स्यादक्षरार्थः स उच्यते॥ शब्दरूपपदार्थेभ्यो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। विरुद्धः स्यात्प्रकरणे व्यंग्यार्थः स निगद्यते॥ बह्वर्थेनापि सम्पूर्णं वर्णितं स्वादसंयुतम्। तद्योजनं भवेद्येन भावार्थः प्रोच्यते बुधैः॥ धात्वक्षरनियोगेन स्वार्थो यत्र न लभ्यते। तत्पर्यायेण संसिद्धेदावर्त्तार्थः स गद्यते॥ पदैकेन समादिष्टः कोशधात्वर्थयोर्बलात्। पदभेदो भवेद्यत्र पदार्थः सोऽभिधीयते॥ विरुद्धं यत्प्रकरणादुक्तिभेदेन योजनम्। वाक्यार्थपदपर्याय उक्तिः सा कथिता बुधैः॥**'(१—८) अर्थात् प्राकर्णिक भावको उद्देश्य करके तदनुकूल जो सुन्दर रहस्यमें अर्थ कहा जाता है वह 'ध्वनि' है। रुढ्यर्थको छोड़कर धातु और प्रत्ययके बलसे प्रकरणके अनुकूल जो अर्थ किया जाय उसे 'शब्दार्थ' कहते हैं। प्रसिद्ध अर्थको छोड़कर स्वार्थमें व्युत्पत्तिकी योजना जिसमें हो, पर साथ ही प्रसिद्ध अर्थका भेद भी न हो उसे 'अक्षरार्थ' कहते हैं। जहाँ शब्दरूप और पदार्थोंसे भिन्न अर्थ न हो, पर प्रकरणके विरुद्ध हो वहाँ 'व्यंग्य' होता है। बहुत-से अर्थोंको लेकर सम्पूर्ण वर्णित पदार्थको जिसके द्वारा स्वादयुक्त बनाया जाय उसे 'भावार्थ' कहते हैं। धातुके अक्षरोंके बलसे जहाँ स्वार्थ न सिद्ध होनेपर उसके पर्यायसे उस अर्थको सिद्ध किया जाय उसे 'आवर्त्तार्थ' कहते हैं। एक पदसे कहा हुआ पदार्थ कोश और धातुके बलसे जहाँपर दो पद होने लगें वहाँ 'पदार्थ' कहेंगे। प्रकरणके जो विरुद्ध हो, पर जिसे शब्दके भेदसे संगत किया जाय उसे वाक्यार्थ, पदपर्याय वा उक्ति कहते हैं। (१—८) ये ही आठ भेद हैं।

दोहा—मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर-खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥ ३० (क)॥

शब्दार्थ—**सूकर-खेत**=वाराहक्षेत्र। यह श्रीअयोध्याजीके पश्चिम बारह कोशपर श्रीसरयूजीके तटपर है। (करु०) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'मेरे मतमें यह सूकरक्षेत्र नेपालराज्यमें है जिसे लोग वाराहक्षेत्र कहते हैं।' ☞ यहाँ घाघरा-सरयू-सङ्गम है। यहाँ वाराहक्षेत्रपर पौष महीनेमें कल्पवास किया जाता है। सन्तमत यही है परन्तु कोई-कोई टीकाकार इसे सोरोंपर एटा जिलेमें बताते हैं। विशेष नोट २ में देखिये। **तसि**=जैसी औरोंने समझी कि जिनको ऊपर कह आये हैं।=जैसी ठीक-ठीक कथा है वैसी नहीं समझी—(पाण्डेजी)।

अर्थ—मैंने उस कथाको वाराहक्षेत्रमें अपने गुरुजीसे सुनी। उस समय बालपन था। मैं अत्यन्त अचेत (अजान, अज्ञान) था (मुझे कुछ भी ज्ञान न था), इसलिये वैसी समझमें न आयी॥ ३०॥

टिप्पणी—(१) उत्तम, मध्यम कहकर अब निकृष्ट कोटिको कहते हैं। क्योंकि वे लोग सुजान थे उन्हें समझ पड़ी, मुझे नहीं समझ पड़ी, क्योंकि तब मैं अति 'अचेत' था। *'अति अचेत'* अर्थात् अचेत तो अब भी हूँ, कलिमलग्रसित हूँ, विमूढ़ हूँ।' उस समय 'अत्यन्त' अचेत था। (२) *'मैं पुनि'* यह

बोली है; दोनोंका मिलकर 'मैं' अर्थ है। यथा—*'सब चुपचाप चले मग जाहीं।'* (अ०) में चुपचापका अर्थ चुप है—*'मैं पुनि पुत्र बधू प्रिय पाई', 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी', 'मैं पुनि गयउँ बंधु संग लागा।'* इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। (३) अपने गुरुका किसीसे मानस पढ़ना न कहा। क्योंकि गुरु साक्षात् भगवान् हैं। इसीलिये किसीका शिष्य होना न कहा। शिष्यका धर्म है कि अपने गुरुको किसीसे लघु न माने, यथा—*'तुम्ह ते अधिक गुरुहि जिय जानी।'* (२। १२९) (४) गुरुका पढ़ना साक्षात् न कहा, आशयसे जना दिया है।

नोट—१ *'मैं पुनि निज गुर सन सुनी'* इति। गोस्वामी तुलसीदासजीके गुरु (मन्त्र-उपदेष्टा) श्रीस्वामी नरहर्य्यानन्दजी महाराज थे, यह पूर्व लिखा जा चुका है। रामचरितमानस इन्हीं गुरुके द्वारा गोस्वामीजीको प्राप्त हुआ। गुरुको कहाँसे मिला, यह इस ग्रन्थमें महाकविने नहीं स्पष्ट लिखा, बिना इसके जाने इनकी मानस-परम्परा नहीं बतायी जा सकती। (न लिखनेका कारण यह जान पड़ता है कि वे गुरुको 'हर' और 'हरि'-रूप कह चुके हैं। हरिरूप कहकर जनाया कि श्रीराममन्त्र इनसे मिला और हररूप कहकर गुप्तरूपसे यह कह दिया कि 'हर'-रूपसे इन्होंने 'मानस' दिया।) वस्तुतः भगवान् शङ्करने ही रामचरितमानस इनको गुरुके द्वारा दिया (जैसे भुशुण्डिजीको लोमशजीद्वारा दिया था)। 'मूल गुसाईंचरित' में भी कहा है—*'प्रिय सिष्य अनन्तानंद हुते। नरहर्य्यानंद सुनाम छते॥ ''''तिन कहँ भव दरसन आपु दिये।''''प्रिय मानस रामचरित्र कहे। पठये तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥ दोहा—लै बालक गवनहु अवध विधिवत मंत्र सुनाय। मम भाषित रघुपति कथा ताहि प्रबोधहु जाय॥'**

श्रीशङ्करजीके आज्ञानुसार तुलसीदासजीको गुरु श्रीअवध लाये, वैष्णवपञ्चसंस्कार यहीं इनका हुआ और राममन्त्र मिला। लगभग साढ़े सात वर्षकी अवस्था उस समय थी। १० मास श्रीहनुमान्गढ़ीपर रहकर पाणिनिसूत्र आदि पढ़ा। फिर शूकरक्षेत्रमें, हेमन्त ऋतुमें, सम्भवतः मार्गशीर्ष मासमें गये। तब ८ वर्ष ४ मासकी अवस्था थी। शूकरक्षेत्रमें ५ वर्ष रहे, यहीं गोसाईंजीने गुरुजीसे पाणिनिसूत्र अर्थात् अष्टाध्यायीका अध्ययन किया। सुबोध होनेपर रामचरित्रमानस गुरुने इनको सुनाया और बारम्बार सुनाते-समझाते रहे। इस प्रकार गोस्वामीजीने गुरुसे जब रामचरितमानस सुना तब उनकी अवस्था तेरह-चौदह वर्षसे अधिक न थी, इसीको कविने *'बालपन-' 'अति अचेत'* (अवस्था) कहा है। यह अपरिपक्व अतः अबोध-अवस्था है ही। इस तरह मानसकी गुरुपरम्परा आपकी यह हुई, १ भगवान् शङ्करजी। २ स्वामी श्रीनरहर्य्यानन्दजी। ३ गोसाईंजी। रामचरितमानसके मूल स्रोत भगवान् शङ्कर ही हैं, इन्हींसे अनेक धाराएँ निकलीं।

नोट—२ मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'बृहद्रामायणमाहात्म्यमें कहा है कि ममता नाम्नी स्वस्त्रीकी शिक्षा होनेपर गोस्वामीजी श्रीअयोध्याजीमें आकर गुप्तारघाटपर सो रहे। स्वप्नमें देखा कि पिताजी उनसे कहते हैं कि आँख खुलनेपर जिस सन्तका प्रथम दर्शन हो उन्हींसे शिष्य हो जाना। जागनेपर श्रीनरहरिदासजीके दर्शन हुए। प्रार्थना करनेपर उन्होंने उपदेश दिया। तत्पश्चात् नैमिषारण्यके वाराहक्षेत्रको साथ-ही-साथ गये। वहाँ कुछ दिन रहकर रामायणश्रवण किया।

नोट—३ गोस्वामीजीद्वारा मानसमें निर्दिष्ट *'सूकरखेत'* कौन है जहाँ उन्होंने अपने गुरुदेवसे प्रथम-प्रथम मानसकी कथा सुनी?

श्रीअयोध्याजीके निकटवर्ती भू-भागमें 'सूकरखेत' के नामसे प्रसिद्ध प्राचीन शूकरक्षेत्र गोंडा जिलेमें

---

* 'मूल गुसाईंचरित' के सम्बन्धमें मतभेद है। उसमें तिथियोंकी अशुद्धियाँ पायी जाती हैं। इससे कुछ विशेष साहित्यज्ञोंने उसको प्रमाण माननेमें सन्देह प्रकट किया है। श्रीरामदास गौड़जीने उसको प्रामाणिक माननेके कारण अपने एक लेखमें (जो कल्याणमें छपा था) कहे हैं। कुछ लोगोंने यह मत प्रकट किया है कि तिथियोंकी अशुद्धियाँ होनेपर भी यह सर्वथा अग्राह्य नहीं है। उसकी प्रतिलिपि जो बाबा रामदासकी लिखी हुई है उसके कागज और मसिसे वह प्राचीन लिखी हुई ही सिद्ध होती है, सन्तमण्डलोंमें उसका मान है। अतः हम उसके उद्धरण भी कहीं-कहीं दे रहे हैं।

अयोध्याजीसे लगभग तीस मीलकी दूरीपर उत्तर-पश्चिमकोणपर स्थित है। अवध-तिरहुत रेलवेकी 'कटिहार' से 'लखनऊ' जानेवाली प्रधान लाइनपर कर्नैलगंज स्टेशनसे यह बारह मील उत्तर पड़ता है। यहाँ प्रतिवर्ष पौषकी पूर्णिमाको बड़ा भारी मेला लगता है और श्रीअयोध्या, काशी, प्रयाग, चित्रकूट, नैमिषारण्य एवं हरिद्वार आदिसे साधुओंके अखाड़े भी पौषभर कल्पवास करनेके लिये आते हैं। यह क्षेत्र पसका-राज्यके अन्तर्गत है। मेला पसकासे एक फर्लांगकी दूरीपर लगता है। यहाँ एक मन्दिर वाराहभगवान्‌का और वाराही-देवीका भी है। घाघराके बहावकी दिशा निरन्तर बदलती रहने तथा प्रतिवर्ष बाढ़के प्रकोपके कारण प्राचीन मूर्ति और मन्दिर प्रायः लुप्त हो चुके थे। सौ वर्षसे अधिक हुआ कि राजा नैपालसिंहजीने नये मन्दिरकी स्थापना की। देवीभागवतमें भी वाराहभगवान् और वाराहीदेवीका उल्लेख आया है। यथा—'**वाराहे चैव वाराही सर्वैः सर्वाश्रया सती।**'''''**पूर्वरूपं वराहं च दधार स च लीलया। पूजां चकार तां देवीं ध्यात्वा च धरणीं सतीम्॥**' (स्कन्ध ९, अ०९। २५, ३३) शूकरखेतमें दोनोंकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। वाराहीदेवी या उत्तरी भवानीका मन्दिर पसकाके उत्तर-पूर्व-दिशामें स्थित है।

गोस्वामीजीका सम्बन्ध इसी शूकरक्षेत्रसे था, इसका एक प्रमाण यह भी मिलता है कि शूकरक्षेत्रके मन्दिरसे मिली हुई एक बहुत प्राचीन कुटी है जो अपने आस-पासकी भूमिसे बीस फुटकी ऊँचाईपर स्थित है। कुटीके द्वारपर बरगदका एक विशाल वृक्ष है और पीछे एक उतना ही पुराना पीपलका। ये दोनों बाबा नरहरिदास (नरहर्य्यानन्द) के लगाये कहे जाते हैं और यह कुटी भी उन्हींकी है, यह वहाँके वर्तमान अधिकारी बाबा रामअवधदासने बताया और संतसमाजमें भी यही ख्याति है।

बाबा रामअवधदास नरहरिदासजीकी शिष्यपरम्पराकी दसवीं पीढ़ीमें हैं। इनका कथन है कि इस गद्दीके संस्थापक श्रीनरहरिदासजीकी साधुतापर मुग्ध होकर उनके समकालीन पसकाके राजा धौकतसिंहने कुछ वृत्ति दी थी जो अबतक वैसी ही उनकी शिष्यपरम्पराके अधिकारमें चली आती है। मेरे विचारमें तो गोस्वामीजीके गुरुदेवकी स्मृति भी अबतक उसी भूमि (वृत्ति)के कारण सुरक्षित रह सकी है, नहीं तो दो-एक पीढ़ियोंके बाद ही उसका भी चिह्न मिट जाता। उस भूमिपर आज भी लगान नहीं लिया जाता। पसका-राज्यके पदाधिकारी उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हैं। वृत्तिदाता तथा भोक्ता दोनोंकी परम्परा अबतक अविच्छिन्नरूपसे चली आती है।

गोस्वामीजीके पसका वा शूकरखेत आनेकी बात इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि बाबा वेणीमाधवदास, जो 'गोसाईंचरित' के परम्परासे प्रसिद्ध रचयिता हैं, पसकाके ही निवासी थे। 'शिवसिंह सरोज' तथा यू० पी० डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर, गोंडा डिस्ट्रिक्ट, दोनों इसकी पुष्टि करते हैं। 'सेंगर' ने स्वयं गोसाईंचरित देखा था तभी तो वे लिखते हैं कि 'इनके (तुलसीके) जीवन-चरित्रकी पुस्तक श्रीवेणीमाधवदास कवि पसका-ग्रामवासीने, जो इनके साथ रहे, बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है। उसके देखनेसे इन महाराजके सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तकमें की ऐसी विस्तृत कथाको हम कहाँतक वर्णन करें?' तुलसी या उनके परिचित किसी अन्य महानुभावके जीवनसे सम्बद्ध आजतक किसी अन्य पसका गाँवका उल्लेख साहित्यके इतिहासोंमें नहीं मिलता। डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर लिखता है—

"One or two Gonda worthies have attained some measure of literary fame Beni Madho Das of Paska was a disciple and Companion of Tulsi Das whose life he wrote in the form of Poem entitled "The Goswami-Charita."

(Vol. XILV) District Gazetteer of Gonda
By W.C. Benett

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज और 'डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उस समय लिखे गये थे जब 'शूकरखेत' की स्थिति एक प्रकारसे सर्वमान्य होकर वर्तमान वर्गोंके दुराग्रहसे

एक समस्या नहीं बना दी गयी थी और न उनके लेखकों—विद्वानोंपर, जिनमें एक अँग्रेज महाशय भी थे, किसी प्रकारका साम्प्रदायिक अथवा वैयक्तिक स्वार्थोंका दोष ही लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मानसकी भाषा ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अवश्य ही तुलसीने अयोध्याके निकटमें अपने प्रारम्भिक जीवनका अधिकांश भाग व्यतीत किया था, क्योंकि किसी स्थानकी भाषा उसी अवस्थामें पूर्णरूपेण ग्रहण की जा सकती है।

गोंडा जिलेका शूकरक्षेत्र आज भी 'शूकरखेत' के नामसे ही जिस रूपमें उसका उल्लेख रामचरितमानसमें हुआ है, प्रसिद्ध है।—यह बात महत्त्वपूर्ण है। 'सोरों' शूकरका अपभ्रंश हो सकता है और वाराहावतारका किसी कल्पमें स्थान भी, किन्तु उसे तुलसीका 'शूकरखेत' कहना एक बहुत बड़ी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक भूल है।

यह भी बता देना आवश्यक है कि उकारकी मात्राका प्रयोग आज भी पसकाके रहनेवाले बोलनेमें बहुत करते हैं जैसा कि मानसमें भी है, जैसे कि रामु, भरतु इत्यादि।

शूकरखेतको वाराहावतारका स्थान सिद्ध करनेवाले मुख्य प्रमाणोंमें 'शूकरक्षेत्र' नामके अतिरिक्त 'पसका' तथा 'घाघरा' नदीके नाम विशेष सहायक हैं। पसका=पशुका=वह स्थान जहाँ पशु रहते हैं=वह स्थान जहाँ भगवान्ने पशुरूप धारण किया था=शूकरक्षेत्र। अथवा, पसका=**पशुकः**=**पशु एव** इति। (पशुप्रधान स्थान)=**कुत्सितः पशुः** (कुत्सित पशु अर्थात् शूकर)। अथवा, भगवान् जब अधिक समयतक रसातलसे न लौटे तब अनिष्टकी शङ्कासे ऋषियोंने यहाँ उपवास किया था जिससे इस स्थानका नाम ***'उपवासकाः'*** पड़ा जो धीरे-धीरे पवासका, पासका, पसका हो गया। घाघरा 'घुरघुर' शब्दका अपभ्रंश माना जाता है। क्रोधावेशमें हिरण्याक्षके वधके समय वाराहभगवान् बड़े ऊँचे स्वरसे 'घुरघुर' शब्द करते हुए निकले थे, इससे नदीका नाम घाघरा पड़ा। (श्रीभगवतीप्रसाद सिंहजी)

नोट—४ श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि—'ग्रन्थकार अपनेको बालपनकी तरह अचेत सूचित करते हैं, किन्तु उनका बालपन था नहीं। क्योंकि बालपन तो अति अचेत अवस्था है। उस अवस्थामें कोई रामचरितकी कथा क्या सुनेगा?......अतः गोस्वामीजीको गुरुसे कथा श्रवण करते समय बालक-अवस्था-का अर्थ करना असंगत है।' (गोस्वामीजी संस्कारी पुरुष थे। वाल्मीकिजीके अवतार तो सभी मानते हैं—उनके समयसे ही। संस्कारी बालकोंके अनेक उदाहरण अब भी मिलते हैं।)

वे उत्तरार्धका अर्थ यह करते हैं—***'जसि बालपन अति अचेत है तस मैं अचेत रहेउँ।'*** वे लिखते हैं कि 'बिना 'जस' शब्दको लिये 'तस' शब्दका अर्थ हो ही नहीं सकता।......ग्रन्थकारकी अवस्था समझनेकी थी पर अचेत होनेके कारण नहीं समझे। एक तो रामकी कथा गूढ़, दूसरे मैं जीव जड, तीसरे कलिमलग्रसित। अतः नहीं समझ सका और बालपन तो समझनेकी अवस्था ही नहीं है। उसमें जीवकी जडता, कथाकी गूढ़ता, कलिका ग्रसना, कहनेका क्या प्रयोजन है?'

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि 'ज्ञानमें तुलसीदासजी बालक थे। अर्थात् उस समय विशेष हरि-चरित्रका ज्ञान न था। थोड़े ही दिनोंमें साधु हुए थे। इसीलिये वे आगे लिखते हैं कि मेरा जीव जड कलिके मलसे ग्रसा हुआ उस गूढ़ रामकथाको कैसे समझे। पूर्व नोट २ भी देखिये।

दोहा—श्रोता बकता ज्ञान-निधि कथा राम कै* गूढ़।
किमि समुझौं †मैं जीव जड़ कलिमल-ग्रसित बिमूढ़॥ ३० (ख)॥

अर्थ—श्रीरामजीकी कथा गूढ़ है। इसके श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञाननिधि होने चाहिये। मैं जड कलिमलसे ग्रसा हुआ और अत्यन्त मूर्ख जीव कैसे समझ सकता?॥ ३०(ख)॥

---

* की।

†समुझै—यह पाठान्तर किसी छपी पुस्तकमें है।

नोट—१ (क) *'श्रोता बकता ग्यान निधि……'* का एक अर्थ ऊपर दिया गया। मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'यद्यपि श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञाननिधि हों तो भी कथा गूढ़ है।' तात्पर्य यह कि ज्ञाननिधि वक्ता-श्रोता होनेपर भी कथाका समझना कठिन है और मैं तो 'जीव जड……' हूँ। (ख) किसी-किसीका मत है कि आशय यह है कि 'गुरुदेव तो ज्ञाननिधि थे ही और श्रोता भी जो वहाँ थे वे भी ज्ञाननिधि थे, इस कारण वक्ताका भाषण संस्कृतमें ही होता था। वे सब कथामें वर्णित गुप्त रहस्यको खूब समझते थे। मुझे वैसी समझमें नहीं आती थी, जैसी उन्हें।' और 'मूल गुसाईंचरित' के अनुसार शङ्करजीकी आज्ञा केवल गोस्वामीजीको यह कथा पढ़ाने-समझानेकी थी और उन्हींको गुरुजीने पढ़ाया-समझाया भी; क्योंकि इन्हींके द्वारा भगवान् शङ्करको उसका प्रचार जगत्‌में कराना अभिप्रेत था। यथा—*'मम भाषित रघुपति कथा ताहि प्रबोधहु जाय॥ ७॥ जब उघरहिं अंतर दृगनि तब सो कहिहि बनाय।…पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे। अति गूढ़ कथा समुझावत भे॥'* (ग) *'कथा राम कै गूढ़'* इति। कथासे तात्पर्य श्रीरामजीके चरित्र, उनके गुण-ग्राम, उनकी लीला जो उन्होंने की इत्यादिसे है न कि केवल काव्य-रचना या पदार्थहीसे। किस चरितका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। कथाका विषय एवं गुप्त रहस्य जानना कठिन है। *गूढ़*=कठिन; अभिप्रायगर्भित, गम्भीर; जिसका आशय शीघ्र न समझमें आवे; गुप्त। यथा—*'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति।'* (आ० मं० सो०)

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ १॥
भाषाबद्ध* करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ २॥

शब्दार्थ—**बद्ध**=बँधा हुआ, प्रबन्ध बना हुआ। **भाषाबद्ध**=साधारण देश, भाषामें बना या रचा हुआ। **प्रबोध**=पूर्ण बोध; सन्तोष।

अर्थ—(यद्यपि मैं बालक था, अति अचेत था, कलिमलग्रसित और विमूढ़ था) तो भी श्रीगुरुदेवजीने बारम्बार कथा कही। तब बुद्धिके अनुकूल कुछ समझमें आयी॥ १॥ उसीको मैं भाषा (काव्य) में रचूँगा, जिससे मेरे मनको पूरा बोध होवे॥ २॥

नोट—१ *'तदपि कही'* का भाव कि जड जानकर भी गुरुजीने मेरा त्याग न किया, मेरे समझनेके लिये बारम्बार कहा। इसमें यह अभिप्राय गर्भित है कि यदि गुरु तत्त्ववेत्ता और दयालु हों तो शिष्यको, चाहे कैसा ही वह मूढ़ हो, बारम्बार उपदेश देकर बोध करा ही देते हैं। इस तरह अपने गुरु महाराजको ज्ञाननिधि और परम दयालु सूचित किया। (मा० प०)

नोट—२ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ गोस्वामीजीने *'बारहिं बारा'* पद देकर यह भी जना दिया कि कितने बार गुरुजीने आपसे कथा कही। बारह-बारह अर्थात् चौबीस बार पढ़ाया। पुनः, इससे यह सूचित किया कि रामकथा एक बार सुनकर न छोड़ देनी चाहिये वरन् बारम्बार सुनते रहना चाहिये। वायुपुराणमें लिखा है कि सारे कामोंसे सङ्कोच करके कथा सुननी चाहिये। यथा—'**स्नानसन्ध्यादिकर्माणि परित्यज्य हरेः कथाम्। शृणोति भक्तिसम्पन्नः कर्मपाशाद्विमुच्यते॥ कथानिमित्तं यदि कर्मलोपो स कर्मलोपो न भवेन्मदीयः।**' (मानस-पत्रिका)

पं० शिवलाल पाठकजी *'राम भगत अधिकारी चीन्हा'* के *'अधिकारी'* शब्दका अर्थ यह करते हैं कि 'जिसके उरमें पूर्वहीसे भक्तिका वास हो रहा है, तत्पश्चात् जिसने मानसविज्ञ गुरुको पाकर उनमें पञ्चावृत्ति मन लगाकर मानस पढ़ा हो, वह अधिकारी है'। इस प्रमाणसे कुछ लोगोंका मत है कि *'बारहिं बारा'* से केवल पाँच बार पढ़ानेका तात्पर्य है।

☞ गोस्वामीजी 'पाँच बार' स्वयं कह सकते थे पर ऐसा न कहकर उन्होंने *'बारहिं बारा'* लिखा। इससे निश्चय नहीं कहा जा सकता कि कितने बार कही। मूल गुसाईंचरितमें भी *'पुनि पुनि मुनि ताहि*

* बंध—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। बद्ध—१६६१, १७०४। सुधाकर द्विवेदीजी 'बंध' को उत्तम मानते हैं।

सुनावत भे' कहा है, जिसका अर्थ 'बारम्बार' ही है। जब प्रबोध हो गया तब वहाँसे चले। यथा—*'एहि भाँति प्रबोधि मुनीस चले।'* अपने-अपने मति-अनुसार जो अर्थ चाहें लोग लगा सकते हैं। हाँ, समयका खयाल अवश्य रहे कि जितनी बारका अर्थ लगाया जाय उतनी आवृत्तियाँ उतने समयमें सम्भव हों। यह भी प्रश्न यहाँ उठता है कि क्या यहाँ कोई ग्रन्थ पढ़ानेकी बात है या केवल शङ्करद्वारा कही हुई कथा? ग्रन्थ पढ़ने-पढ़ानेमें समय अधिक लगेगा, केवल चरित कहने और समझनेमें समय कम लगेगा। यहाँ ग्रन्थका पढ़ना नहीं है। यह इस दीनका विचार है, आगे जो सन्तों, मानस विज्ञोंका विचार हो, वही ठीक है।

श्रीशङ्करजीने *'अधिकारी'* का अर्थ (७। १२८) में स्वयं कहा है। यथा—*'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥ गुरपद प्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥'*

टिप्पणी—१ *'कछु मति अनुसारा'* इति। 'मति लघु थी इससे कुछ समझ पड़ा, जो मति भारी होती तो बहुत समझ पड़ता। कुछ समझनेमें तो जगत्‌भरका उपकार हुआ, जो बहुत समझ पड़ता तो न जाने क्या होता?'

नोट—३ *'भाषाबद्ध करबि'* से सूचित किया कि आपने गुरुजीसे संस्कृतहीमें पढ़ा-सुना था।

नोट—४ चौपाईके उत्तरार्द्धमें भाषामें रचनेका कारण यह बताया कि पूरा बोध हो जावे। श्रीकरुणासिन्धुजी यहाँ शङ्का उठाते हैं कि—'क्या गुरुके कहनेसे आपको बोध न हुआ और स्वयं अपना ग्रन्थ बनानेसे बोध हो जावेगा ? ऐसा कहनेसे आपकी आत्मश्लाघा सूचित होती है, अपने यशकी चाह प्रतीत होती है—यह दोष आता है' और फिर इसका समाधान भी करते हैं कि भाषाबद्ध करनेमें यह कोई प्रयोजन नहीं है। आप यह नहीं कहते कि हमने गुरुके कहनेसे नहीं समझा। बल्कि यह कहते हैं कि जो कुछ हम गुरुसे पढ़कर समझे हैं उसीको भाषामें लिखते हैं।

नोट—५ भाषाबद्ध करनेसे अपने जीको सन्तोष हो सकेगा कि (क) हमने जो गुरुजीसे सुना है वह ठीक-ठीक स्मरण है, भूल तो नहीं गया। यह बात लिखनेहीसे ठीक निश्चय होती है। लिखनेसे कोई सन्देह नहीं रह जाता, सब कमी भी पूरी हो जाती है। (ख) आगे भूल जानेका डर न रहेगा। लिखनेसे फिर भ्रम न रहेगा क्योंकि बहुत गूढ़ विषय है— (पं० रा० कु०) पुनः, (ग) भाव कि साधारण बुद्धिवाले जब इसे पढ़ें, सुनें और समझें तब हमें पूरा बोध हो कि गुरुजीने जो कहा वह हमें फलीभूत हुआ, हमारा कल्याण हुआ, औरोंका भी कल्याण होगा। इससे हमारे गुरुको परमानन्द होगा। (मा० प्र०) [नोट—यथार्थ समझना तभी है जब दूसरेको समझा सकें।]

टिप्पणी—२ गोस्वामीजीने इस ग्रन्थके लिखनेका कारण आदिमें **'स्वान्तःसुखाय'** कहा—(मं० श्लोक० ७), ग्रन्थके अन्तमें **'स्वान्तस्तमःशान्तये'** कहा और यहाँ *'मोरे मन प्रबोध जेहि होई'* कहा। ये तीनों बातें एक ही हैं। अन्तस् मनका वाचक है। मनको प्रबोध होता है तभी सुख और शान्ति आती है।

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहौं हियं हरि कें प्रेरें॥ ३॥

अर्थ—जैसा कुछ मुझमें बुद्धि-विवेकका बल है वैसा ही मैं हृदयमें 'हरि' की प्रेरणासे कहूँगा॥ ३॥

पं० रामकुमारजी—यहाँ गोस्वामीजी अपनी दीनता कहते हैं। इनको बुद्धि-विवेकका बड़ा बल (परमेश्वरका दिया हुआ) है। क्योंकि बुद्धि श्रीजानकीजीसे पायी है; यथा—*'जनकसुता जगजननि जानकी। ·· जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।'* (१। १८। ८) पुनः समस्त ब्रह्माण्डके प्रसादसे आपको मति मिली, यथा—*'आकर चारि लाख चौरासी।'* से *निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं॥'* (१। ८। १—४) और शम्भुप्रसादसे सुमति मिली है; यथा—*'संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥'* (१। ३६। १) इसी तरह इनको विवेकका बड़ा बल है। प्रथम गुरु-पद-रज-सेवनसे विवेक मिला, यथा—*'गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥ तेहि करि बिमल बिबेक*

बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥' (दो०२) उसपर भी हरि-प्रेरणाका बड़ा बल है। उरके प्रेरक भगवान् हैं, यथा—*'सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥'* (७। ११३) *'सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥'* (१। १०५। ५) हरि-प्रेरणासे ही सरस्वतीजी कविके हृदयमें विराजकर कहलाती हैं।

सूर्यप्रसाद मिश्र—यह बात सच है कि मानस अति गम्भीर है, उसके पूरा-पूरा कथनका अधिकार किसीको नहीं है, मैं क्या कह सकता हूँ, उसी हृदयप्रेरक भगवान्‌की प्रेरणासे कहूँगा। इस कथनसे यह बात साफ हो गयी कि मैं कुछ नहीं कह सकता।

नोट—*'हरि'* से कोई-कोई क्षीरशायी भगवान्‌का अर्थ लेते हैं क्योंकि प्रथम इनको हृदयमें बसाया है, यथा—*'करउ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन।'* काष्ठजिह्वास्वामीजी *'हरि'* से मङ्गलमूर्ति श्रीहनुमान्‌जीका अर्थ करते हैं। हरि 'बानर' को भी कहते हैं। सुधाकर द्विवेदीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'हनुमान्‌जीकी रचनापर जब रामजीने सही नहीं की, क्योंकि वे वाल्मीकीयपर सही कर चुके थे, तब हनुमान्‌जीने निश्चय किया कि मैं कलिमें तुलसीकी जिह्वापर बैठकर सरल भाषामें ऐसा रामायणका प्रचार करूँगा कि वाल्मीकिकी महिमा बहुत थोड़ी रह जायगी।'

'हरि' का अर्थ ग्रन्थकारने प्रथम ही मङ्गलाचरणमें लिख दिया है। यथा—'वन्देऽहं **तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्**।' अर्थात् जिसका 'राम' यह नाम है वे हरि। फिर यहाँ कहा है कि *'कहिहौं हिय हरि के प्रेरे'।* और आगे श्रीरामजीका सूत्रधररूपसे हृदयमें सरस्वतीका नचाना कहा है। यथा—*'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'* (१। १०५) इस प्रकार भी *'हरि'* से श्रीरामजी ही अभिप्रेत हैं। भागवतमें भी कहा है—'**प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वता यस्य सती स्मृतिं हृदि।**' (भा० २। ४। २२) 'मूल गुसाईंचरित' का मत है कि श्रीहनुमान्‌जीने गोस्वामीजीको श्रीअवध भेजा और चैत्र शु० ९ को दर्शन देकर हनुमान्‌जीने उनको आशीर्वाद दिया।—*'नवमी मंगलवार सुभ प्रात समय हनुमान। प्रगटि प्रथम अभिषेक किय करन जगत कल्यान॥'* इससे श्रीहनुमान्‌जीका भी ग्रहण *'हरि'* शब्दसे हो सकता है।

*****

श्रीरामचरितमानसमाहात्म्यवर्णन-प्रकरण

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव-सरिता तरनी॥ ४॥

अर्थ—मैं अपने सन्देह, मोह और भ्रमको हरनेवाली और संसारनदीके लिये नावरूप कथा रचता हूँ॥ ४॥

नोट—१ (क) यहाँसे गोस्वामीजी श्रीराम-कथाका माहात्म्य एवं ग्रन्थका प्रयोजन विशेषणोंद्वारा कहते हैं। पचीस विशेषण स्त्रीलिङ्गके और अट्ठाईस पुँल्लिङ्गके हैं। यहाँ अपना तथा संसारभरका भला करना प्रयोजन बताया (ख) सन्देह, मोह, भ्रमके रहते हुए भवका नाश नहीं होता। इसीसे पहिले तीनोंका नाश कह-कर तब *'भव सरिता तरनी'* कहा। (पं० रा० कु०)

'संदेह मोह भ्रम' इति।

बैजनाथजीका मत है कि मन विषय-सुख-भोगमें जब आसक्त हो जाता है तब भगवत्-रूपमें आवरण पड़ जानेसे चित्तमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है, जिससे मन मोहवश होकर बुद्धिको हर लेता है, यथा—'**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥**' (गीता २। ६७) किसीका मत है कि सन्देह चित्तमें होता है, मोह मनमें और भ्रम बुद्धिमें। रा० प्र० कार लिखते हैं कि आत्माके ज्ञानमें द्विविधा होना—यह बोध न होना कि मैं कौन हूँ 'सन्देह' है। अपनेको देह मानना 'भ्रम' है। सू० प्र० मिश्र लिखते हैं कि 'यह ठीक है या नहीं, यही सन्देह है—'**इदमेव भवति न वा इति संदेहः**'। काम और बेकाम, इनका विचार न होना मोह है—'**कार्याकार्यविवेकाभावरूपो मोहः**।' झूठेमें सच्चेकी प्रतीति

होना भ्रम है—'**भ्रमयतीति भ्रमः।**' श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'सन्देह अर्थात् संशय किसी वस्तुके ज्ञानमें द्विविधा होना, जैसे श्रीरामजीको परब्रह्म मानकर श्रीशिवजीने प्रणाम किया और पार्वतीजीको चरितकी दृष्टिसे रामजी मनुष्य जान पड़े। अतः सन्देह हो गया कि शिवजी ईश हैं इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो? पर मुझे तो रामजी मनुष्य ही दीखते हैं। अतः 'सन्देह' का अर्थ ईश्वरके स्वरूप-ज्ञानमें द्विविधा है। 'मोह' का अर्थ 'अपने (जीव) स्वरूपमें अज्ञान होना है' जिससे अपनेको देह ही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दसों इन्द्रियोंके भोक्ता होनेमें दशमुखरूप होना है। '......भ्रमका अर्थ अचित् (माया) तत्त्वमें अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्मके शरीररूप जगत्‌में नानात्व-सत्ताका भ्रम होना है।'.....अतः यहाँ सन्देह, मोह और भ्रम क्रमशः ब्रह्म, जीव और मायाके विषयमें कहे गये हैं।''

परन्तु सतीजी, गरुड़जी और भुशुण्डिजीके मोह-प्रसङ्गोंके पढ़नेसे स्पष्ट है कि ब्रह्मके सम्बन्धहीमें तीनोंको मोह, भ्रम और सन्देह होना कहा गया है। ग्रन्थमें 'सन्देह, मोह और भ्रम'—ये तीनों शब्द प्रायः पर्यायकी तरह एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। पर यहाँ तीनों शब्द एक साथ ही आये हैं, इसलिये इनमें कुछ-न-कुछ भेद भी होना पाया जाता है। साधारणतया तो ऐसा जान पड़ता है कि ये तीनों अज्ञानके कार्य हैं। जब किसी पदार्थके विषयमें मनुष्यको अज्ञान होता है तब उसको उस विषयका किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, अज्ञानकी इस प्रथम अवस्था (कार्य) को 'मोह' कहते हैं—'**मुह वैचित्ये**' '**वैचित्यमविवेकः**'। 'मोह' वह अवस्था है जिसमें निश्चयात्मक या सन्देहात्मक किसी प्रकारका विचार नहीं होता। इस अवस्थाका अनुभव प्रायः देखनेमें कम आता है, बहुधा इसके स्थूलरूप (सन्देह या भ्रम)ही विशेष अनुभवमें आते हैं। जब मोह स्थूलरूप धारण करता है तब उसीको 'भ्रम' कहते हैं। किसी पदार्थके विपरीत-ज्ञान (अयथार्थ अनुभव) को 'भ्रम' कहते हैं। इस अवस्थामें मनुष्यको पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, किन्तु वह कुछ-को-कुछ समझता है। इसके दृष्टान्त—'**रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः**', '***रजत सीप महं भास जिमि जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥***' (१। ११७) इत्यादि हैं। जब 'भ्रम' अनिश्चित रहता है तब उसको 'सन्देह' भी कहते हैं। एक विषयमें भिन्न-भिन्न प्रकारके ज्ञानको 'सन्देह' कहते हैं। अर्थात् ऐसा है अथवा ऐसा, मनकी इस द्विविधा वृत्तिको 'सन्देह' (संशय) कहते हैं। संशयात्मा यह निर्णय नहीं कर सकता कि ठीक क्या है। यह दोनों प्रकारसे होता है। प्रथम यथार्थ ज्ञान होनेपर जब कोई कारण होता है तब उसमें सन्देह होता है। जैसे गरुड़जी और भुशुण्डिजी आदिको प्रथम यथार्थ ज्ञान था कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं। पश्चात् लीला देखनेसे उनको सन्देह हो गया। कहीं प्रथम अयथार्थ ज्ञान रहता है तब कारणवशात् उसमें सन्देह होता है। जैसे सतीजीको प्रथम निश्चय था कि श्रीरामजी मनुष्य हैं परन्तु शिवजीके प्रणाम करनेपर उनको सन्देह हो गया। यथा—'***सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥ संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥ तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥ ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥***' (१। ५०) '***बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥ संभुगिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सब कोई॥ अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥***' इस प्रकार सन्देह, मोह, भ्रम और इनके मूल कारण अज्ञानमें यद्यपि सूक्ष्म भेद है तथापि कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म भावमें अभेद मानकर एक प्रसङ्गमें भी समानरूपसे इनका प्रयोग प्रायः देखनेमें आता है। इनमेंसे 'सन्देह' में एक अंशमें विपरीत ज्ञान भी होता है, इसलिये 'सन्देह' (अनिश्चित ज्ञान) के स्थलमें 'भ्रम' शब्दका प्रयोग भी कतिपय स्थानोंमें हुआ है, परन्तु जहाँ निश्चयपूर्वक विपरीत ज्ञान है उस स्थलमें 'सन्देह' शब्दका प्रयोग नहीं होता, क्योंकि वहाँ उसका लक्षण नहीं आता। उस स्थलमें 'भ्रम' शब्दका ही प्रयोग होगा। अज्ञान तथा मोह ये सन्देह तथा भ्रमके कारण हैं। अतः उनका प्रयोग निश्चित और अनिश्चित दोनों स्थलोंमें होता है। अतएव सतीमोह और गरुड़मोहप्रसङ्गोंमें इन चारों शब्दोंका प्रयोग एक ही अवस्थामें किया गया है। गरुड़प्रसंगमें अज्ञानके बदले माया शब्दका प्रयोग हुआ है।

अज्ञानकी स्थूल या सूक्ष्म कोई भी अवस्था क्यों न हो उसकी निवृत्ति कथासे होती है, यह बतानेके लिये ही यहाँपर *'संदेह मोह भ्रम'* इन तीनों शब्दोंका ग्रहण किया गया है। इसी भावको लेकर ही अन्यत्र भी एक साथ इन शब्दोंका प्रयोग किया है। यथा—*'देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम॥'* (७। ६४) *'तुम्हहिं न संसय मोह न माया।'* (७। ७०)

नोट—२ *'संदेह'* को आदिमें रखनेका कारण यह है कि यह तीनोंमें सबसे भयंकर है मोह और भ्रम होनेपर कदाचित् सुख हो भी जाय परन्तु सन्देहके रहते सुख नहीं हो सकता। जैसे सतीजीको जब-तक यह निश्चयात्मक अयथार्थ ज्ञान (अर्थात् भ्रम) रहा कि श्रीरामजी मनुष्य हैं तबतक उनको कोई दुःख न था; परन्तु जब शिवजीको प्रणाम करते देख उन्हें सन्देह उत्पन्न हुआ तभीसे उनके दुःखका प्रारम्भ हुआ। गीताके—**'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥'** (४। ४०) इस श्लोकपर स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी भी भाष्यमें कहते हैं कि अज्ञानी और अश्रद्धालु यद्यपि नष्ट होते हैं पर वैसे नहीं कि जैसे संशयात्मा नष्ट होता है। क्योंकि उसको न यह लोक, न परलोक और न सुख प्राप्त होता है।

नोट—३ कथा भवसागरके लिये तरणोपाय है। यथा—**'एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः। भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥'**, (भा० १। ६। ३५) अर्थात् (नारदजीने व्यासजीसे कहा है कि) जिन लोगोंका चित्त विषय-भोगोंकी इच्छासे बारम्बार व्याकुल होता है, उनके लिये भगवान्‌के चरित्रोंकी कथा ही संसार-सागरसे पार उतारनेवाला प्लव निश्चित किया गया है।

पं० रामकुमारजी—*'निज संदेह......'* का भाव यह है कि गुरु-वचन, रवि-किरण-सम है, उससे मोह-अन्धकार दूर होता है, कथा हमने गुरु-मुखसे सुनी, इससे सन्देह-मोह-भ्रम अब न रहेगा। (इससे जनाया कि कथासे श्रीराम-स्वरूपका बोध हो जाता है।)

रा० प्र०—भवसागर न कहकर यहाँ भवसरिता कहनेका भाव यह है कि रामकथाके आगे भवसागर कुछ नहीं रह जाता, एक साधारण नदीके समान जान पड़ता है जिसके लिये नाव बहुत है। इससे भव या संसारजन्य दुःखकी तुच्छता दिखायी।

बुध बिश्राम सकल-जन-रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि॥ ५॥

अर्थ—रामकथा पण्डितोंको विश्राम देनेवाली, सब प्राणियोंको आनन्द देनेवाली और कलिके पापोंका नाश करनेवाली है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पहिले कह आये हैं कि *'सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥'* (१। १०) अर्थात् यह कथा श्रीरामनाम और श्रीरामयशसे अंकित है, इसीसे 'बुधजन' को विश्रामदात्री है। अथवा आपने जो कवियोंसे प्रार्थना की थी कि—*'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधुसमाज भनिति सनमानू॥'* (१। १४) वह प्रसाद आपको मिला, इसलिये बुध-विश्राम कहा।

यह कथा केवल 'बुध' हीको विश्रामदात्री नहीं है, सकल-जन-रञ्जनी है। यह शक्ति इसी कथामें है; क्योंकि प्रायः जहाँ बुध-विश्राम है वहाँ सकल जन-रञ्जन नहीं और जहाँ सकल-जन-रञ्जन होता है वहाँ बुधको विश्राम नहीं। परन्तु यह दोनोंको विश्राम देती है। 'सकल' से श्रोता, वक्ता, पृच्छकादि सभीका ग्रहण है। [पुनः, (ख) बुध-विश्रामका भाव यह है कि जो बुद्धिमान् अनेक शास्त्र पढ़कर श्रमित हो गये हैं उनको विश्रामरूपी है—**'विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसाम्।'** (रा० प्र०) ☞परिश्रमके उपरान्त विश्रामहीसे प्रयोजन रहता है और उसका वास्तविक अनुभव भी परिश्रम करनेवाला ही कर सकता है। यथा—*'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरुछाया सुख जानै सोई॥'* (७। ६९) पुनः, (ग)—'विश्राम' पद 'पूर्व थका हुआ' का सूचक है। पण्डितलोग वेद-शास्त्र-पुराणादि अध्ययन करते-करते थक गये पर उनको यथार्थ तत्त्वका निश्चय न हुआ। उनको भी मानसमें विश्राम मिलेगा। क्योंकि इसमें सब *'श्रुति सिद्धांत*

निचोरि' कहा गया है।] '(मानसमयङ्क) ☞अध्यात्मरामायणके माहात्म्यमें भी कहा है **'तावत्सर्वाणि शास्त्राणि विवदन्ते परस्परम्॥'** (२५) अर्थात् समस्त शास्त्रोंमें परस्पर विवाद तभीतक रहेगा जबतक श्रीरामायण-को नहीं पढ़ते। तात्पर्य कि इस कथाको पढ़नेपर वाद-विवाद सब छूट जाते हैं।

टिप्पणी—२ ***'कलि कलुष बिभंजनि'*** इति। (क) कलि-कलुषको विशेष नाश करती है। **'वि'**=विशेष, पूर्ण रीतिसे। ***'विशेष भंजनि'*** कहा क्योंकि सुकर्मसे भी पाप नाश होते हैं पर विशेष रीतिसे नहीं, यथा—***'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥'*** (वि० १२८) (ख) कलि-कलुषका नाश कहकर आगे कलिका नाश कहते हैं। कलि कारण है, कलुष कार्य है। यदि कारण बना रहेगा तो फिर कार्य हो सकता है। इसीसे कार्यका नाश कहकर कारणका नाश कहते हैं जो केवल कलिका नाश कहते तो कलिसे जो कार्य 'कलि-कलुष' हो चुका है वह बना रहता। इसलिये दोनोंका नाश कहा। [सूर्यप्रसाद मिश्र—नाश करनेका क्रम यह है कि भगवत्कथा सुननेवाले प्राणीके कर्णद्वारा हृदयमें प्रवेश करके भगवान् उसके अकल्याणोंको दूर कर देते हैं। जैसे शरद्-ऋतुके आते ही नदीमात्रका गँदलापन दूर हो जाता है।]

टिप्पणी—३ तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं। मुक्त, मुमुक्षु और विषयी। चौपाई ४ और ५ में यह जनाया कि यह कथा इन तीनोंका कल्याण करनेवाली है।—***'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।'*** (७। १५) 'बुध-बिश्राम' से मुक्तकोटिका हित, ***'संदेह मोह भ्रम हरनी'*** और ***'भवसरिता तरनी'*** से मुमुक्षुका हित सूचित किया। इनके सन्देह-मोह-भ्रम दूर करके भव पार करेगी। और ***'सकल जन रंजनि'*** से विषयीका हित दिखाया। इनके पापका नाश करके इनको आनन्द देगी।

☞अध्यात्मरामायण-माहात्म्यमें भी कहा है—**'तावद्विजृम्भते पापं ब्रह्महत्यापुरःसरम्। यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति॥'**(२२) **तावत्कलिमहोत्साहो निःशङ्कं सम्प्रवर्तते।'** अर्थात् संसारमें ब्रह्महत्यादि पाप तभीतक रहेंगे, जबतक अध्यात्मरामायणका प्रादुर्भाव नहीं होगा और कलियुगका महान् उत्साह भी तभी-तक निःशङ्क रहेगा।

नोट—यहाँ सबको आनन्द देना और पापका नाश करना काव्यका प्रयोजन बताया।

रामकथा कलि-पन्नग भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहुँ अरनी॥ ६॥

शब्दार्थ—**पन्नग**=सर्प, साँप। **'भरनी'**—भरणीके अनेक अर्थ किये गये हैं—(१)व्रजदेशमें एक सर्पनाशक जीवविशेष होता है जो मूसेका-सा होता है। यह पक्षी सर्पको देखकर सिकुड़कर बैठ जाता है। साँप उसे मेढक (दादुर) जानकर निगल जाता है तब वह अपनी काँटेदार देहको फैला देता है जिससे सर्पका पेट फट जाता है और साँप मर जाता है। यथा—***'तुलसी छमा गरीब की पर घर घालनिहारि। ज्यों पन्नग भरनी ग्रसेउ निकसत उदर बिदारि॥', 'तुलसी गई गरीब की दई ताहि पर डारि। ज्यों पन्नग भरनी भखे निकरै उदर बिदारि॥''*** (२) ***'भरनी'*** नक्षत्र भी होता है जिसमें जलकी वर्षासे सर्पका नाश होता है—**'अश्विनी अश्वनाशाय भरणी सर्पनाशिनी। कृत्तिका षड्विनाशाय यदि वर्षति रोहिणी॥'** (३) भरणीको मेदिनीकोशमें 'मयूरनी' भी लिखा है—**'भरणी मयूरपत्नी स्याद् वरटा हंसयोषिति'** इति मेदिनी। (४) गारुडी मन्त्रको भी भरणी कहते हैं। जिससे सर्पके काटनेपर झाड़ते हैं तो साँपका विष उतर जाता है। (५) 'वह मन्त्र जिसे सुनकर सर्प हटे तो बचे नहीं और न हटे तो जल-भुन जावे।' यथा —***'कीलो सर्पा तेरे बामी'*** इत्यादि। (मानसतत्त्वविवरण) बाबा हरीदासजी कहते हैं कि झाड़नेका मन्त्र पढ़कर कानमें 'भरणी' शब्द कहकर फूँक डालते हैं और पाँड़ेजी कहते हैं कि भरणी झाड़नेका मन्त्र है। (६) राजपूतानेकी ओर सर्पविष झाड़नेके लिये भरणीगान प्रसिद्ध है। फूलकी थालीपर सरफुलईसे तरह-तरहकी गति बजाकर यह गान गाया जाता है। (सुधाकर द्विवेदीजी) **अरनी**=एक काठका बना हुआ यन्त्र जो यज्ञोंमें आग निकालनेके काम आता है।

अर्थ—रामकथा कलिरूपी साँपके लिये भरणी (के समान) है और विवेकरूपी अग्निको (उत्पन्न करनेको) अरणी है॥ ६॥

नोट—१ (क) भरणीका अर्थ जब 'भरणी पक्षी' या 'गारुडी मन्त्र' लेंगे तब यह भाव निकलता है कि कलिसे ग्रसित हो जानेपर भी कलिका नाश करके जीवको उससे सदाके लिये बचा देती है। कलिका कुछ भी प्रभाव सुनने-पढ़नेवालेपर नहीं पड़ता। पुनः (ख)—*'कलि कलुष बिभंजनि'* कहकर *'कलि पन्नग भरनी'* कहनेका भाव यह है कि कथाके आश्रित श्रोता-वक्ताओंके पापोंका नाश करती है और यदि कलि इस वैरसे स्वयं कथाका ही नाश किया चाहे तो कथा उसका भी नाश करनेको समर्थ है। अन्य सब ग्रन्थ मेंढकके समान हैं जिनको खा-खाकर वह परक गया है। यथा—*'कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।'* (७। ९७) पर यहाँ वह बात नहीं है; क्योंकि श्रीरामकथा 'भरणी पक्षी' के समान है जिसको खाकर वह पचा नहीं सकता। इस तरह कथाको अपना रक्षक भी जनाया। [☞ कलिके नाशका भाव यह है कि कलिके धर्मका नाश करती है, कलियुग तो बना ही रहता है पर उसके धर्म नहीं व्यापते। (पं० रा० कु०)] (ग) उसका अर्थ 'भरणी नक्षत्र' या 'मयूरनी' करें तो यह भाव निकलता है कि कलिको पाते ही वह उसका नाश कर देती है। उसको डसनेका अवसर ही नहीं देती। ऐसी यह रामकथा है। यह भी जनाया कि कलिसे श्रीरामकथाका स्वाभाविक वैर है, वह सदा उसके नाशमें तत्पर रहती है चाहे वह कुछ भी बाधा करे या न करे। वह कामादि विकारोंको नष्ट ही करती है, रहने नहीं देती। (घ) इस तरह 'भरणी' शब्द देकर सूचित किया है कि श्रीराम-कथा दोनोंका कल्याण करती है—जिन्हें कलिने ग्रास कर लिया है और जिनको अभी कलि नहीं व्यापा है उनकी भी रक्षा करती है।

नोट—२ *'अरनी'* इति। इसके दो भाग होते हैं, अरणि वा अधरारणि और उत्तरारणि। यह शमीगर्भ अश्वत्थसे बनाया जाता है। अधरारणि नीचे होती है और उसमें एक छेद होता है। इस छेदपर उत्तरारणि खड़ी करके रस्सीसे मथानीके समान मथी जाती है। छेदके नीचे कुश वा कपास रख देते हैं जिसमें आग लग जाती है। इसके मथनेके समय वैदिक मन्त्र पढ़ते हैं और ऋत्विक् लोग ही इसके मथने आदिके कामोंको करते हैं। यज्ञमें प्रायः अरणीसे निकाली हुई अग्नि ही काममें लायी जाती है। (श० सा०)

सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि 'अरणीसे सूर्यका भी बोध होता है। सूर्यपक्षमें ऐसा अर्थ करना चाहिये कि सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है एवं रामकथारूपी सूर्यके उदय होनेसे हृदयस्थ अविवेकरूप अन्धकार नष्ट होकर परम पवित्र विवेक उत्पन्न होता है।' (स्कन्दपुराण काशीखण्ड अ० ९में सूर्यभगवान्‌के सत्तर नाम गिनाकर उनके द्वारा उनको अर्घ्य देनेकी विशेष विधि बतायी हैं, उन नामोंमेंसे एक नाम 'अरणि' भी है। यथा—'**गभस्तिहस्तस्तीव्रांशुस्तरणिः सुमहोऽरणिः।**' (८०) इस प्रकार 'अरणि' का अर्थ 'सूर्य' भी हुआ।)

श्रीजानकीशरणजीने 'अरणी' का अर्थ 'लोहारकी धौंकनी' भी दिया है, पर कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस अर्थमें यह रूपक भी ठीक नहीं जमता, क्योंकि जहाँ किञ्चित् अग्नि होगी वहीं धौंकनी काम देगी और जहाँ अग्नि है ही नहीं वहाँ उससे कुछ काम न चलेगा।

टिप्पणी—१(क) कलि और कलुषके रहते विवेक नहीं होता। इसीसे कलि और कलुष दोनोंका नाश कहकर तब विवेककी उत्पत्ति कही। (ख) 'अरणी' कहनेका भाव यह है कि यह कथा प्रत्यक्षमें तो उपासना है परन्तु इसके अभ्यन्तर ज्ञान भरा है, जैसे अरणीके भीतर अग्नि है यद्यपि प्रकटरूपमें वह लकड़ी ही है। (ग) यहाँ 'परम्परित रूपक' है।

नोट—३ यहाँ काव्यका प्रयोजन पापनाशन और विवेकोत्पत्ति बताया।

नोट—४ गोस्वामीजीने ३१वें दोहेमें 'कथा' पद और ३२वेंमें 'चरित' पद दिया है। पं० शिवलालजी पाठक इस भेदको यों समझाते हैं कि 'अठारहवें दोहेमें ग्रन्थकारने यह लिखा है कि (*गिरा अरथ जल बीचि सम*……) श्रीजानकीजीने गिरा और श्रीरामचन्द्रजीने अर्थ प्रदान किया सो गिराको ३१वें और अर्थको ३२वें दोहेमें कथा और चरित करके लिखा है। *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'* से *'तुलसी सुभग सनेह बन*

सिय रघुबीर बिहारू॥' तक जो महत्त्व इस मानसका कहा वह श्रीजानकीजीकी प्रदान की हुई गिराके प्रभावसे कहा। पुनः, *'रामचरित चिंतामनि चारू'* से *'सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहुँ।'* तक जो महत्त्व कहा, वह 'श्रीरामचन्द्रजीके प्रदान किये हुए अर्थके प्रभावसे कहा। ध्वनि यह है कि श्रीरामजानकीजीके प्रभावसे पूरित यह महत्त्वका भण्डार मानस मैं कथन करता हूँ।'

रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि-मूरि सुहाई॥ ७॥

शब्दार्थ—**कामद**=कामनाओं अर्थात् अभीष्ट मनोरथको देनेवाली। **सजीवनि**=जिलानेवाली। **कामद गाई**=कामधेनु।

अर्थ—रामकथा कलियुगमें कामधेनु है और सज्जनोंके लिये सुन्दर सञ्जीवनी जड़ी है॥ ७॥

नोट-१ *'कलि कामद गाई'* इति। कलियुगमें कामधेनु है, ऐसा कहनेका भाव यह है कि (क) कलियुगमें जब कामधेनुके समान है तब और युगोंमें इस कथाका जो महत्त्व है वह कौन कह सकता है? (रा० प्र०) (ख) कलिमें प्रधान धर्म रामकथा है—**'कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्।'** अथवा, ऐसे भी कलिकालकरालमें कामधेनुके समान फल देती है। (पं० रा० कु०) (ग) कामधेनु सर्वत्र पूज्य है और सब कामनाओंकी देनेवाली है। इसी तरह रामकथा सर्वत्र पूज्य है और अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी देनेवाली है।

सूर्यप्रसाद मिश्र—'कामधेनु शब्दसे यह व्यञ्जित होता है कि कामधेनु सर्वत्र नहीं होती और बड़ी कठिनतासे मिलती है एवं रामकथा कलियुगमें बड़ी कठिनतासे सुननेमें आती है। सत्ययुग, त्रेतामें घर-घर गायी जाती थी, द्वापरमें केवल सज्जनोंके घरमें पर कलियुगमें तो कहीं-कहीं। स्कन्दपुराणमें भी रामकथाको कामधेनु कहा है—**'कलौ रामायणकथा कामधेनूपमा स्मृता।'**

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि जैसे देवता कामधेनुकी पूजा करते हैं वैसे ही सबको श्रीरामकथाकी पूजा करनी चाहिये। यह उपदेश इस चौपाईमें है।

नोट—२ *'सजीवनि मूरि सुहाई।'* सञ्जीवनीसे मरे हुए लोग भी जी उठते हैं। *'सजीवनि मूरि'* कहकर सूचित किया कि (क)सज्जन इसीसे जीते हैं। भाव यह है कि सज्जनोंको यह जीवनस्वरूप है अर्थात् उनको अत्यन्त प्रिय है, इसीको वे जुगवते रहते हैं। यथा—*'जिवन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ।'* (२। ५९) (पं० रा० कु०) अस्तु। जीवनमूल अतिशय प्रियत्वका बोधक है। (ख) अविनाशी कर देती है""(करु०, रा० प्र०)। (ग) इससे सज्जनलोग संसारसर्पसंदष्ट मृतक जीवोंको जिला देते हैं। चौदह प्राणी जीते हुए भी मरे ही माने गये हैं। यथा—*'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥ तनु पोषक निंदक अघ खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥'* (६। ३०) इनको भी कथारूपिणी सञ्जीवनी देकर भक्त बना श्रीरामसम्मुख कर सज्जनलोग भवपार कर देते हैं।

नोट—३ सकामियोंके लिये कामधेनु-सम कहा और सज्जनों अर्थात् निष्कामियोंको सजीवनि-मूरि-सम कहा। (पं० रा० कु०) यहाँ काव्यका प्रयोजन 'सम्पत्ति' है। (वै०)

सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि। भय* भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥ ८॥

शब्दार्थ—**बसुधा तल**=पृथ्वीतल। तरंगिनि=लहरोंवाली, बड़ी नदी। तरङ्गें भारी नदियोंमें होती हैं।

अर्थ—पृथ्वीपर वही (रामकथा) अमृत-नदी है। भयकी नाशक और भ्रमरूपी मेंढकके लिये सर्पिणी है॥ ८॥

नोट—१*'बसुधा तल सुधा तरंगिनि'* कहनेका भाव यह है कि (क) पृथ्वीपर तो अमृतका एक बूँद

* 'भव' पाठान्तर है। पं० रामकुमारजी 'भव' पाठ देकर यह भाव लिखते हैं कि ऊपर चौपाई ४में रामकथाको 'भवतरनी' कहा। इससे भवका बना रहना निश्चय हुआ। इसलिये अब 'भव' का नाश यहाँ भवभंजनि' पद देकर कहते हैं। 'भव'—वै०। भ्रम भावका मूल है। 'तब भवमूल भेद भ्रम नासा'।

भी प्राप्त नहीं है सो इस पृथ्वीपर इसे अमृतकी नदी समझना चाहिये, पृथ्वीभरका जरा-मरण इससे छूटेगा। (पं० रा० कु०) (ख) यह नदी पृथ्वीभरमें है। इसके लिये किसी खास स्थान (स्थानविशेष) पर जानेकी आवश्यकता नहीं है। यह सर्वत्र प्राप्त है, घर बैठे ही यह अमृत-नदी प्राप्त है। अपना ही आलस्य वा *दोष है यदि हम उसका दर्शन, स्पर्श, पान और स्नान नहीं करते*—***'सुरसरि तीर बिनु नीर दुख पाइहै।'*** (ग) ***'सोइ बसुधा तल'*** का भाव यह भी है कि प्रथम यह श्रीरामकथामृत-सरिता देवलोक—कैलासमें भगवान् शङ्करके निकट रही, परन्तु श्रीयाज्ञवल्क्यजीके सम्बन्धसे वही भूलोकमें आयी।

नोट—२ श्रीरामकथाको कामदगाई, सजीवनमूरि और सुधातरंगिनि कहना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है।

नोट—३ ***'भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि'*** इति। (क) यहाँ ***'भय'*** से जन्म-मरण आदिका भय अर्थात् भव-भय समझना चाहिये। (रा० प्र०) (ख) श्रीरामकथाको अमृत-नदी कहा। नदीके दो तट होते हैं। यहाँ कथाका कीर्त्तन और श्रवण उसके दोनों तट हैं। नदी तटके वृक्षोंको उखाड़ती है, श्रीरामकथा-नदी भव-भयरूपी वृक्षोंको उखाड़ती है। (ग) ***'भ्रम भेक भुअंगिनि'*** इति। गोस्वामीजीने पहिले इससे अपने भ्रमका नाश होना कहा, यथा—***'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'*** और अब दूसरेके भ्रमका नाश कहते हैं; इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। नदीके तीर मेंढक रहते हैं, इस तरह कथाके निकट जितने भ्रम हैं उनको यहाँ कथा सर्पिणीरूपा होकर खाती है। सर्पिणी बिना श्रम मेंढकको निगल जाती है, वैसे ही रामकथा भ्रमको खा जाती है, उसका पता भी नहीं रह जाता। (घ) यहाँ, 'परम्परित रूपक' है। (ङ) बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि स्वस्वरूप, परस्वरूपमें अन्यथाज्ञान भ्रम है। कथारूपसर्पिणी शङ्कर-हृदय-बाँबीमें बैठी थी, उमाके भ्रम दादुरको देख प्रकट हो निगल गयी।

असुरसेन सम नरक निकंदिनि। साधु-बिबुध कुल हित गिरि-नंदिनि॥ ९॥

शब्दार्थ—**नरक***=पाप कर्मोंके फल भोगनेके स्थान। **निकंदिनि** (निकन्दिनी)=खोद डालनेवाली, नाश करनेवाली। **बिबुध**=देवता, पण्डित। **कुल**=वंश, समूह, समाज। **हित**=लिये। **निमित्त**=हित करनेवाली।

अर्थ—'असुरसेन' के समान नरकको नाश करनेवाली है और साधुरूपी देव-समाजके लिये श्रीपार्वतीजीके समान है॥ ९॥

नोट—१ श्रीश्यामसुन्दरदासजीने—'असुरोंकी सेनाके समान नरकको नाश करनेवाली है और साधु तथा पण्डित जनोंके समूहके लिये पर्वतनन्दिनी गङ्गाजीके समान है' ऐसा अर्थ किया है। विनायकीटीकाने भी गिरिनन्दिनीका 'गङ्गा' अर्थ किया है।

नोट—२ 'असुरसेन' के दो अर्थ टीकाओं और कोशमें मिलते हैं। (क) **असुर+सेन**'=दैत्योंकी सेना। साधारणतया तो 'असुरसेन' का अर्थ यही हुआ। सूर्यप्रसादजी कहते हैं कि नरककी सब बातें असुरोंमें पायी जाती हैं इसीसे नरकको 'असुरसेन' कहा। (ख) दूसरा अर्थ हिन्दी शब्दसागरमें यों दिया है—'असुर-सेन'—इसकी संज्ञा पुँल्लिङ्ग है। संस्कृत शब्द है। यह एक राक्षस है, कहते हैं कि इसके शरीरपर गया

---

* शब्दसागरमें लिखते हैं कि 'मनुस्मृतिमें नरकोंकी संख्या २१ बतलायी गयी है जिनके नाम ये हैं— तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, नरक, महानरक, कालसूत्र, सञ्जीवन, महावीचि, तपन, प्रतापन, संहति, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्त्तिक, लोहशंकु, ऋजीष, शाल्मली, वैतरणी, असिपत्रवन और लोहदारक। इसी प्रकार भागवतमें भी २१ नरकोंका वर्णन है जिनके नाम इस प्रकार हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, घोर, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्र-कण्टक-शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि और अय:पान। और इनके अतिरिक्त क्षारमर्दन, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्त्तन और सूचीमुख—ये सात नरक और भी माने गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पुराणोंमें और भी अनेक नरककुण्ड माने गये हैं, जैसे—वसाकुण्ड, तप्तकुण्ड, सर्पकुण्ड, चक्रकुण्ड। कहते हैं कि भिन्न-भिन्न पाप करनेके कारण मनुष्यकी आत्माको भिन्न-भिन्न नरकोंमें सहस्रों वर्षोंतक रहना पड़ता है जहाँ उन्हें बहुत अधिक पीड़ा दी जाती है।'

नामक नगर बसा है। महात्मा हरिहरप्रसादजी, श्रीबैजनाथजी और सन्त श्रीगुरुसहायलालने भी इसका अर्थ 'गयासुर' किया है। गयातीर्थ इसीका शरीर है।

वायुपुराणान्तर्गत गया-माहात्म्यमें इसकी कथा इस प्रकार है—यह असुर महापराक्रमी था। सवा सौ योजन ऊँचा था और साठ योजन उसकी मोटाई थी। उसने घोर तपस्या की जिससे त्रिदेवादि सब देवताओंने उसके पास आकर उससे वर माँगनेको कहा। उसने यह वर माँगा कि 'देव, द्विज, तीर्थ, यज्ञ आदि सबसे अधिक मैं पवित्र हो जाऊँ। जो कोई मेरा दर्शन वा स्पर्श करे वह तुरन्त पवित्र हो जाय।' एवमस्तु कहकर सब देवता चले गये। सवा सौ योजन ऊँचा होनेसे उसका दर्शन बहुत दूरतकके प्राणियोंको होनेसे वे अनायास पवित्र हो गये जिससे यमलोकमें हाहाकार मच गया। तब भगवान्‌ने ब्रह्मासे कहा कि तुम यज्ञके लिये उसका शरीर माँगो। (जब वह लेट जायगा तब दूरसे लोगोंको दर्शन न हो सकेगा, जो उसके निकट जायेंगे वे ही पवित्र होंगे।) ब्रह्माजीने आकर उससे कहा कि संसारमें हमें कहीं पवित्र भूमि नहीं मिली जहाँ यज्ञ करें, तुम लेट जाओ तो हम तुम्हारे शरीरपर यज्ञ करें। उसने सहर्ष स्वीकार किया। अवभृथस्नानके पश्चात् वह कुछ हिला तब ब्रह्मा-विष्णु आदि सभी देवता उसके शरीरपर बैठ गये और उससे वर माँगनेको कहा। उसने वर माँगा कि जबतक संसार स्थित रहे तबतक आप समस्त देवगण यहाँ निवास करें, यदि कोई भी देवता आपमेंसे चला जायगा तो मैं निश्चल न रहूँगा और यह क्षेत्र मेरे नाम (अर्थात् गया नाम) से प्रसिद्ध हो तथा यहाँ पिण्डदान देनेसे लोगोंका पितरोंसहित उद्धार हो जाय। देवताओंने यह वर उसे दे दिया। (अ० १,२)

नोट—३ (क) 'असुरसेन' का अर्थ असुरोंकी सेना लेनेसे इस चौपाईका भाव यह होता है कि जैसे पार्वतीजीने दुर्गारूपसे असुरोंकी सेनाका नाश देवताओंके लिये किया, वैसे ही रामकथा नरकका नाश साधुओंके लिये करती है। (मा० प०) यहाँ 'असुरसेन' से शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड, महिषासुर आदिका ग्रहण होगा।

(ख) 'असुरसेन' का अर्थ गयासुर लेनेसे यह भाव निकलता है कि 'रामकथा' गयासुर वा गयातीर्थके समान नरकका नाश करनेवाली है। पुनः साधुरूप देवताओंका हित करनेको दुर्गारूप है।

कोई-कोई महानुभाव इस अर्थको 'क्लिष्ट एवं असंगत कल्पना' कहते हैं। परन्तु एक प्रामाणिक कोशमें 'असुरसेन' का अर्थ ऐसा मिलता है। रामकथाका माहात्म्य ***'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी'*** से प्रारम्भ हुआ है। प्रत्येक चौपाईमें यहाँतक दो-दो विशेषण पाये जाते हैं, यथा—(१) ***संदेह मोह भ्रम हरनी।*** (२) ***भव सरिता तरनी।*** (३) ***बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।*** (४) ***कलि कलुष बिभंजनि।*** इत्यादि जान पड़ता है कि इसी रीतिका निर्वाह करनेके लिये 'गयासुर' अर्थ किया गया। इस तरह अर्थ और प्रसङ्गमें सङ्गति भी है। हाँ! एक असङ्गति पड़ती है कि रामकथाके और सब विशेषण स्त्रीलिङ्गके हैं और 'गयासुर' पुँल्लिङ्ग है, जो कि काव्यदोष माना गया है। वे० भू० दो-दो की संगति लगानेके लिये ***'गिरि नंदिनि'*** के दो अर्थ करते हैं—एक तो 'पार्वतीजी' जो अर्थ प्रसिद्ध ही है; दूसरा गङ्गाजी। गङ्गाजीको हिमालयकी कन्या कहा है, यथा—'**शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातूनामाकरो महान्। तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि॥ या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा। नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया॥ तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता। उमा नाम द्वितीयाभूत् कन्या तस्यैव राघव॥ एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते। गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमादेवी च राघव॥**'(वाल्मी०१। ३५। १४—१६, २२) अर्थात् धातुओंकी खानि पर्वतराज हिमाचलके मेरुपुत्री मेनासे दो कन्याएँ हुईं, प्रथम गङ्गा हुई, दूसरी उमा। ये दोनों पूजनीया हैं। गङ्गा नदियोंमें और उमा देवियोंमें श्रेष्ठ हैं। इस तरह यहाँ भी दो विशेषण हो जाते हैं। ***'गिरिनन्दिनि'*** कहकर दोनों अर्थ सूचित किये हैं। पाराशर्य उपपुराणमें भी कहा है कि '**वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी। पुनातु**

भुवनं पुण्या रामायणमहानदी॥' अर्थात् वाल्मीकिरूपी पर्वतसे उत्पन्न श्रीरामरूपी सागरको जानेवाली यह पवित्र रामायणरूपी महानदी लोकोंको पवित्र करे। (वाल्मीकीय माहात्म्य अध्याय १ श्लोक ३८)

नोट—४ ***'साधु बिबुध कुल हित गिरि नंदिनि'*** इति। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि (क) ***'गिरि नंदिनि'*** पार्वतीजी हैं क्योंकि हिमाचलके यहाँ इनका जन्म हुआ था। रामकथाको गिरिनन्दिनिकी उपमा बहुत ही सार्थक है। क्योंकि रामकथाको भी ***'पुरारिगिरिसम्भूता'*** कहा गया है। (ख) पार्वतीजीने ही दुर्गारूप होकर शुम्भ-निशुम्भ, कुम्भेश आदि असुरोंको मारकर देवताओंको सुख दिया, यथा—***'चंड भुजदंड खंडनि बिहंडनि मुंड महिष मद भंग करि अंग तोरे। सुंभि निःसुंभि कुंभेस रन केसरिनि क्रोध बारिधि बैरि बृंद बोरे॥'*** (वि०१५) इसी प्रकार कथा भक्तके लिये नरकोंका नाश करती है। (ग) 'पार्वतीजीने दुर्गारूप होकर देवताओंके लिये असुरोंको मारा, उससे और सबका भी हित हुआ। इसी तरह रामकथा साधुओंके लिये नरकका नाश करती है, इसीसे और सबका भी हित होता है।' (एक भाव यह भी हो सकता है कि जैसे दुर्गासप्तशती है वैसे ही रामकथा 'सप्त सोपान' है।)

टिप्पणी—१'रामकथा साधु लोगोंके बाँटे पड़ी है, इसीसे बार-बार साधुओंका हित होना लिखते हैं। यथा—(१) ***बुधबिश्राम सकल जन रंजनि,*** (२) ***सुजन सजीवनि मूरि सुहाई,*** (३) ***साधु बिबुध कुल हित गिरि नंदिनि,*** (४) ***संत समाज पयोधि रमा सी,*** (५) ***तुलसिदास हित हिय हुलसी सी,*** (६) ***सिव प्रिय मेकल सैलसुता सी।*** २—छः बार स्त्रीलिङ्गमें कहा। इसी तरह छः प्रकारसे हित पुँल्लिङ्गमें कहा है, यथा—(क) ***संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।*** (ख) ***काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के॥*** (ग) ***सेवकसालिपाल जलधर से।*** (घ) ***राम भगत जन जीवनधन से।*** (ङ) ***सेवक मन मानस मराल से।*** (च) ***रामकथा राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर''''॥*** (पं० रा० कु०)

संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्व* भार भर अचल छमा सी॥ १०॥

शब्दार्थ—**पयोधि**=समुद्र, क्षीरसागर। **रमा**=लक्ष्मीजी। **भार**=बोझ। **भर**=धारण करनेके लिये।=धारण करनेवाले। **छमा** (क्षमा)=पृथिवी।

अर्थ—संत-समाजरूपी क्षीर समुद्रके लिये रामकथा लक्ष्मीजीके समान है। जगत्का भार धारण करनेको अचल पृथ्वीके सदृश है॥ १०॥

नोट—१ ***'संत समाज पयोधि रमा सी'*** इति। सन्त-समाजको क्षीरसमुद्रकी और रामकथाको लक्ष्मीजीकी उपमा देनेके भाव ये हैं—

(क) लक्ष्मीजी क्षीरसमुद्रसे निकलीं और उसीमें रहती हैं। इसी तरह श्रीरामकथा संत-समाजसे प्रकट हुई और इसीमें रहती है। इसीसे कहा है कि ***'बिनु सतसंग न हरि कथा'***—(करु०, रा० प्र०, पं० रा० कु०) (ख) जैसे लक्ष्मीजी क्षीरसागरमें रहकर अपने पितृकुलको आनन्द देती हैं और उनके सम्बन्धसे भगवान् भी वहीं रहते हैं; वैसे ही श्रीरामकथाके सम्बन्धसे श्रीरामचन्द्रजी भी सन्तोंके हृदयमें वास करते हैं। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीसहित रामकथा संत-समाजमें सदा वास करती है। (ग) लक्ष्मीजी दुर्वासा ऋषिके शापसे क्षीरसागरमें लुप्त हो गयी थीं जो क्षीरसमुद्र मथनेपर प्रकट हुईं, इसी तरह कलिप्रभावसे रामकथा संत-समाजमें लुप्त हो गयी थी, सो श्रीगोस्वामीजीद्वारा प्रकट हुई। विश्वमें जीव, पर्वत, नदी आदि हैं। यहाँ विवेकादि जीव हैं, संहिता आदि सागर, पुराणादि नदी, वेदादि पर्वत हैं। कथा सबका आधार है। (वै०) (घ) लक्ष्मीजी क्षीरसागरकी सर्वस्व, इसी तरह रामकथा संत-समाजकी सर्वस्व। (रा० प्र०) (ङ) क्षीरसागर श्वेतवर्ण है, वैसे ही संत-समाज सत्त्वगुणमय है।

* बिस्वाभार—१६६१।

नोट—२ प० पु० उ० में लिखा है कि शुद्ध एकादशी तिथिको समुद्रका मन्थन प्रारम्भ हुआ। इन्द्रको दुर्वासाने शाप दिया था कि 'तुम त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होनेके कारण मेरा अपमान करते हो। (मैंने जो पारिजात पुष्पकी माला तुमको यात्राके समय भेंट की वह तुमने हाथीके मस्तकपर रखकर उसे रौंदवा डाला) अतः तीनों लोकोंकी लक्ष्मी शीघ्र ही नष्ट हो जायगी '**निःश्रीकाञ्चाभवन्**।' इससे लक्ष्मीजी अन्तर्धान हो गयी थीं। उनको प्रकट करनेके लिये समुद्रका मन्थन हुआ। श्रीसूक्त और विष्णुसहस्रनामका पाठ प्रारम्भ हुआ और भी पूजन होने लगा। मन्थनसे क्रमशः ये चौदह रत्न निकले। १ कालकूट जिसे शङ्करजी भगवान्‌के तीन नामोंका जप करते हुए पी गये। यथा—'**अच्युतानन्त गोविन्द इति नामत्रयं हरेः।**......' (२६०। १७—२१) २ दरिद्रादेवी। ३ वारुणीदेवी जिसे नागराज अनन्तने ग्रहण किया। ४ स्त्री, जिसे गरुड़ने अपनी स्त्री बनाया। ५ दिव्य अप्सराएँ। ६ अत्यन्त रूपवान्, सूर्य, चन्द्र और अग्निके समान तेजस्वी गन्धर्व। ७ ऐरावत हाथी। ८ उच्चैःश्रवा अश्व। ९ धन्वन्तरि वैद्य। १० पारिजात वृक्ष। ११ सुरभि गौ। ७,८,९,१०,११ को इन्द्रने ग्रहण किया। फिर १२ द्वादशीको महालक्ष्मी प्रकट हुईं। १३ चन्द्रमा। १४ श्रीहरिकी पत्नी तुलसीदेवी। इनका प्रादुर्भाव श्रीहरिकी पूजाके लिये हुआ—तत्पश्चात् देवताओंने लक्ष्मीकी स्तुति की कि आप भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें सदा निवास करें। लक्ष्मीजीने इसे स्वीकार किया।

अमृतके लिये जब समुद्र मथा गया तब उसमेंसे जो रत्न निकले उनमेंसे उपर्युक्त १,३,५,७,८,९,११,१२,१३,१४ और कल्पवृक्षके नाम प० पु० सृष्टिखण्डमें आये हैं।

नोट—३ श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि—उत्तरकाण्डमें संतोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीमुखवाक्य है कि ***'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥'*** (७। ३८) इसके अनुसार द्वीपान्तरमें भी जिस किसी व्यक्तिमें वे लक्षण पाये जायँ, तो उसे भी 'संत' कहना ही होगा और संतमात्र चाहे किसी देश व वेषमें हों उन्हें 'पयोधिसमान' कहना भी सार्थक है। परंतु जैसे क्षीरसिन्धुमें सर्वत्र लक्ष्मीजीका वास नहीं है, किन्तु उस महोदधिके किसी विशेष स्थानमें है, उसी तरह संतमात्रमें इस कथाका निवास नहीं है, वरञ्च श्रीसम्प्रदायवाले महानुभावोंके अन्तःकरणमें यह कथा रमावत् रमी हुई है। जहाँ रमा हैं, वहीं रमापति हैं। पुनः, आगे कहा है—***'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥' 'संतसभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल।'*** (१। ३९) एवं ***'संत सभा चहुँ दिसि अँबराई'*** (१। ३७) अतएव संतसभामें जानेसे कथारूपिणी रमाकी प्राप्ति प्रयोजन है। (तु० प० ३। ६)

नोट—४ ***'बिस्व भार भर अचल छमा सी'*** इति। (क) हिन्दू-मतानुसार पृथिवी स्थिर है। इसीसे अचलताके लिये पृथिवीकी उपमा दी। पृथिवी प्रलय आदि कारणोंसे चलायमान हो जाती है, पर श्रीरामकथा शिव-सनकादिके हृदयमें वास होनेसे सदा अचल है। यह विशेषता है। हिन्दू-ज्योतिषमतपर अन्यत्र लिखा जायगा। (ख) जैसे पृथिवीमें सब विश्व है वैसे ही कथामें सब विश्व है।—(पं० रा० कु०) (ग) विश्वका भार धारण करनेमें पृथिवीसम अचल है वा अचल पृथिवीके समान है। भाव यह है कि रामकथा संसारकी आधारभूता है। (रा० प्र०)

टिप्पणी—'श्रीरामकथाको गिरि-नन्दिनी पार्वतीजीके समान कहा, फिर यहाँ 'रमा' सम कहा, परन्तु सरस्वतीसम न कहा। यद्यपि उमा, रमा, ब्रह्माणीकी त्रयी चलती है जैसे त्रिदेवकी ?' समाधान यह है कि कथा तो सरस्वतीसम है ही; इससे उसकी उपमा देनेकी आवश्यकता नहीं—***'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥'***

जमगन मुहँ मसि जग जमुना सी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी॥ ११॥

अर्थ—श्रीरामकथा यमदूतोंके मुखमें स्याही लगानेको जगत्‌में जमुनाजीके समान है। जीवोंको मुक्ति देनेके लिये मानो काशी है॥ ११॥

नोट—१ (क) *'जीवन मुकुति हेतु'* का दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है और श्रीरामकथा जीते-जी ही काशीके समान मुक्ति देती है। अर्थात् जीवन्मुक्त कर देती है। (ख) जीवन्मुक्ति जीवकी वह अवस्था है जिसमें कर्म, भोग, दुःख, सुख आदि जो चित्तके धर्म हैं उनसे शरीर रहते जीव रहित हो जाता है। यथा—'**पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणाश्रितधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्ध भवति तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः।**' (मुक्तिको० २) जीवन्मुक्तके लक्षण महाभारत शान्तिपर्वमें अरिष्टनेमिने सगरमहाराजसे ये कहे हैं—जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोहपर विजय पा ली है, जो सदा योगयुक्त होकर स्त्रीमें भी आत्मदृष्टि रखता है, जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और कर्मोंके तत्त्वको यथार्थ जानता है, जो करोड़ों गाड़ियों अन्नमेंसे सेरभरको ही पेट भरनेके लिये पर्याप्त समझता है, तथा बड़े-बड़े महलोंमें भी लेटनेभरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त मानता है, थोड़े-से लाभमें संतुष्ट रहता है, जिसे मायाके अद्भुत भाव छू नहीं सकते, जो पलंग और भूमिकी शय्याको समान समझता है, जो रेशमी, ऊनी, कुशके बने अथवा वल्कल वस्त्रमें भेद नहीं समझता, जिसके लिये सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, इच्छा-द्वेष और भय-उद्वेग बराबर हैं, जो इस देहको रक्त, मल-मूत्र तथा बहुत-से दोषोंका खजाना समझता है और आनेवाली वृद्धावस्थाजन्य परिस्थितियोंको नहीं भूलता। यथा—'**क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः। क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान्मुक्त एव सः॥ आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः। यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः॥ सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा। यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन्मुक्त एव सः॥ प्रस्थं वाहसहस्त्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु। प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते''''''यश्चाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन्मुक्त एव सः''''''न च संस्पृश्यते भावैरद्भुतैर्मुक्त एव सः॥ पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः। शालयश्च कदन्नं च यस्य स्यान्मुक्त एव सः॥ क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च। आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः॥ सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ। इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः॥ रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणां संचयांस्तथा। शरीरं दोषबहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते॥ वलीपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च। कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते॥**'(अ० २८८। २५, २८-२९, ३१—३५, ३७—३९)

आश्वमेधिकपर्व सिद्ध-काश्यपसंवादमें कहा है कि जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, चित्त-निग्रहमें अनुरक्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, क्रोधरहित, सबके प्रति आत्मभाव रखनेवाला, पवित्र, निरभिमान, अमानी, जीवन-मरण-दुःख-सुख, प्रिय-द्वेष, लाभालाभ इत्यादिमें समबुद्धिवाला, निःस्पृही, किसीका अपमान न करनेवाला, निर्द्वन्द्व, वीतरागी, मित्र-पुत्र-बन्धु-आदिसे रहित, अर्थ-धर्म-कामादि आकांक्षासे रहित, वैराग्यवान्, आत्मदोष देखते रहनेवाला इत्यादि है, वह 'मुक्त' है। यथा—'**सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः। व्यपेत भयमन्युश्च आत्मवान्मुच्यते नरः॥ आत्मवत्सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः। अमानी निरभिमानः सर्वतो मुक्त एव सः॥ जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च। लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते॥ न कस्यचित्स्पृहयते-नाऽवजानाति किञ्चन। निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः॥ अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित्। त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकांक्षी च मुच्यते॥**' इत्यादि। (अनुगीतापर्वप्रकरण अ० १९। १—६)

(ग)—कथासे मुक्ति होती है। यथा—भागवत—'**यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्। छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्॥**' (भा० १।२।१५) अर्थात् जिनके चिन्तनरूपी खड्गसे युक्त पण्डित कर्मजन्य ग्रन्थिरूपी बन्धनको काट देते हैं उनकी कथामें प्रेम कौन न करेगा?

नोट—२ पद्मपुराणमें ऐसी कथा है कि 'कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको जो कोई यमुनाजीमें स्नान करके धर्मराजकी पूजा करे उन्हें यमदूत नरकमें नहीं ले जाते।' ऐसा वरदान यमराजने यमुनाजीको दिया था। यमुनाजी सूर्यकी पुत्री और यम पुत्र हैं। यह लोकरीति है कि इस द्वितीयाको भाई अपनी बहिनके यहाँ

जाता है, भोजन करता है और फिर यथाशक्ति बहिनको कुछ देता है। इसी द्वितीयाको धर्मराजने वरदान दिया था। [(१। २। ९) *'करम कथा रबिनंदिनि०'* देखिये]

☞ परन्तु गोस्वामीजीके मतानुसार यमुनामें यह गुण सदैव है। यथा—*'जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न। त्यों त्यों सुकृत-सुभट कलि-भूपहिं, निदरि लगे बहु काढ़न॥ ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों त्यों जमगन मुख मलीन लहैं आढ़न। तुलसिदास जगदघ जवास ज्यों अनघमेघ लागे डाढ़न॥'* (वि० २१) इसीसे यमुनाजीकी उपमा दी।

नोट—३ *'जमगन मुँह मसि जग जमुना सी'।* (क) मुखमें स्याही लगानेका भाव यह है कि यमदूत पापीको जब लेने आते हैं तब उस समय यदि उसके या और किसीके मुखसे श्रीरामकथाकी एक भी चौपाई निकले तो उसके पास वैष्णव-पार्षद पहुँच जाते हैं, यमदूत उस पापी प्राणीको नहीं लेने पाते। अपना-सा मुँह लेकर चले जाते हैं। पुनः, रामकथाके पढ़ने-सुननेवाले नरक-भोग नहीं करते—यह भी भाव है।

(ख)—यमुनाजी यमदूतोंको लज्जित कर देती हैं। इसका प्रमाण पद्मपुराणमें यह है—**'ऊर्जे शुक्लद्वितीयायां योऽपराह्णेऽर्चयेद्यमम्। स्नानं कृत्वा भानुजायां यमलोकं न पश्यति॥'** इस प्रकार रामकथाके वक्ता-श्रोताके समीप यमदूत अपना मुख नहीं दिखाते। अर्थात् उनसे भागते-फिरते हैं। (मा० प०)

टिप्पणी—यमपुर निवारण होनेपर जीवकी मुक्ति हो सकती है। इसीसे प्रथम यमुनासम कहकर तब काशीसम कहा।

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥ १२॥

शब्दार्थ—हित=लिये=भलाई। **हुलसी सी**=हुल्लासरूप, आनन्दरूप, आनन्दकी लहर-सदृश। यथा—*'सुख मूल दूलह देखि दंपति पुलक तन हुलसेउ हियो।'* (१।३२४)।=हुलसी माताके समान।

अर्थ—श्रीरामजीको यह कथा पवित्र तुलसीके समान प्रिय है। मुझ तुलसीदासके हितके लिये हुलसी माताके एवं हृदयके आनन्दके समान है॥ १२॥

नोट—१ *'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी'* इति। (क) 'तुलसी' पवित्र है और श्रीरामजीको प्रिय है। तुलसीका पत्ता, फूल, फल, मूल, शाखा, छाल, तना और मिट्टी आदि सभी पावन हैं। यथा—**'पत्रं पुष्पं फलं मूलं शाखा त्वक् स्कन्धसंज्ञितम्। तुलसीसम्भवं सर्वं पावनं मृत्तिकादिकम्॥'** (प० पु० उत्तरखण्ड २४। २) वह इतनी पवित्र है कि यदि मृतकके दाहमें उसकी एक भी लकड़ी पहुँच जाय तो उसकी मुक्ति हो जाती है। यथा—**'यद्येकं तुलसीकाष्ठं मध्ये काष्ठस्य तस्य हि। दाहकाले भवेन्मुक्तिः कोटिपापयुतस्य च॥'** (उत्तरखण्ड १४। ७) तुलसीकी जड़में ब्रह्मा, मध्यभागमें भगवान् जनार्दन और मञ्जरीमें भगवान् रुद्रका निवास है। इसीसे वह पावन मानी गयी है। दर्शनसे सारे पापोंका नाश करती है, स्पर्शसे शरीरको पवित्र करती, प्रणामसे रोगोंका निवारण करती, जलसे सींचनेपर यमराजको भी भय पहुँचाती है और भगवान्के चरणोंपर चढ़ानेपर मोक्ष प्रदान करती है। यथा—**'या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी। प्रत्यासत्ति विधायिनी भगवतः कृष्णास्य संरोपिता न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः॥'** (प० पु० उत्तर, ५६। २२। पाताल० ७९। ६६) प्रियत्व यथा—**'तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया।'** (प० पु० सृष्टि० ५९। ११) (ख) भगवान्को तुलसी कैसी प्रिय है, यह बात स्वयं भगवान्ने अर्जुनसे कही है। तुलसीसे बढ़कर कोई पुष्प, मणि, सुवर्ण आदि उनको प्रिय नहीं है। लाल, मणि, मोती, माणिक्य, वैदूर्य और मूँगा आदिसे भी पूजित होकर भगवान् वैसे संतुष्ट नहीं होते, जैसे तुलसीदल, तुलसीमञ्जरी, तुलसीकी लकड़ी और इनके अभावमें तुलसीवृक्षके जड़की मिट्टीसे पूजित होनेपर होते हैं। (प० पु० उ० अ० ५६) ☞भगवान् तुलसी-काष्ठकी धूप, चन्दन आदिसे प्रसन्न होते हैं तब तुलसी-मञ्जरीकी तो बात ही क्या?

'तुलसी' इतनी प्रिय क्यों है, इसका कारण यह भी है कि ये लक्ष्मी ही हैं, कथा यह है कि सरस्वतीने लक्ष्मीजीको शाप दिया था कि तुम वृक्ष और नदीरूप हो जाओ। यथा—'**शशाप वाणी तां पद्मां महाकोपवती सती। वृक्षरूपा सरिद्रूपा भविष्यसि न संशयः॥**' पद्माजी अपने अंशसे भारतमें आकर पद्मावती नदी और तुलसी हुईं। यथा—'**पद्मा जगाम कलया सा च पद्मावती नदी। भारतं भारतीशापात्स्वयं तस्थौ हरेः पदम्॥**' '**ततोऽन्यया सा कलया चालभज्जन्म भारते। धर्मध्वजसुता लक्ष्मीर्विख्याता तुलसीति च॥**' (ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड ६। ३२; ७। ७-८)

(ग)—पुनः, तुलसीके समान प्रिय इससे भी कहा कि श्रीरामचन्द्रजी जो माला हृदयपर धारण करते हैं, उसमें तुलसी भी अवश्य होती है। गोस्वामीजीने ठौर-ठौरपर इसका उल्लेख किया है। यथा—'*उर श्रीवत्स* ***रुचिर बनमाला।***' (१। १४७) '***कुंजरमनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल॥***' (१। २४३) '***सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥***' (३। ३४) बनमालामें प्रथम तुलसी है, यथा—'***सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई॥***' (गी० ७।३) पुनः,

(घ)—'तुलसी-सम प्रिय' कहकर सूचित किया कि श्रीजी भी इस कथाको हृदयमें धारण करती हैं। (पं० रामकुमार) पुनः, (ङ) तुलसीकी तुलनाका भाव यह है कि जो कुछ कर्म-धर्म तुलसीके बिना किया जाता है वह सब निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार भगवत्कथाके बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है।

नोट—२ '......*हिय हुलसी सी*' इति। (क) करुणासिन्धुजी इसका अर्थ यों करते हैं कि 'मेरे हृदयको श्रीरामचन्द्र-विषय हुल्लासरूप ही है।' (ख)—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हृदयमें निरन्तर कथाका उल्लास (आनन्द) बना रहना ही बड़ा हित है।' (ग)—सन्त-उन्मनी-टीकाकार लिखते हैं कि बृहद्रामायणमाहात्म्यमें गोस्वामीजीकी माताका नाम 'हुलसी' और पिताका नाम अम्बादत्त दिया है। पुनः—'***सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय। गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥***'

इस दोहेके आधारपर भी कुछ लोग 'हुलसी' आपकी माताका नाम कहते हैं। यह दोहा खानखानाका कहा जाता है। माताका 'हुलसी' नाम होना विवादास्पद रहा है। वेणीमाधवदासकृत 'मूल गुसाईंचरित' में भी माताका नाम हुलसी लिखा है। यथा—'***उदये हुलसी उद्घाटिहि तें। सुर संत सरोरुह से बिकसे', हुलसी-सुत तीरथराज गये॥***' 'हुलसी' माताका नाम होनेसे अर्थ पिछले चरणका यह होता है कि 'मुझ तुलसीदासका हृदयसे हित करनेवाली 'हुलसी' माताके समान है।' भाव यह है कि जैसे माताके हृदयमें हर समय बालकके हितका विचार बना रहता है वैसे ही यह कथा सदैव मेरा हित करती है। तुलसीदास अपने हितके लिये रामकथाको माता हुलसीके समान कहकर जनाते हैं कि पुत्र कुपूत भी हो तो भी माताका स्नेह उसपर सदा एकरस बना रहता है। '**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।**' और 'हुलसी' माताने हित किया भी। पिताने तो त्याग ही दिया। यथा—'***हम का करिबे अस बालक लै। जेहि पालै जो तासु करै सोइ छै॥ जननेउ सुत मोर अभागो महीं। सो जिये वा मरै मोहिं सोच नहीं॥***'(मूल गुसाईंचरित)। माताने सोचा कि यह मूलमें पैदा हुआ है और माता-पिताका घातक है—यह समझकर इसका पिता इसको कहीं फेंकवा न दे, अतएव उसने बालक दासीको सौंपकर उसको घर भेज दिया और बालकके कल्याणके लिये देवताओंसे प्रार्थना की। यथा—'***अबहीं सिसु लै गवनहु हरिपुर। नहिं तो ध्रुव जानहु मोरे मुये। सिसु फेकि पवारहिंगे भकुये॥ सखि जानि न पावै कोउ बतियाँ। चलि जायहु मग रतियाँ-रतियाँ॥ तेहि गोद दियो सिसु ढारस दै। निज भूषन दै दियो ताहि पठै॥ चुपचाप चली सो गई सिसु लै। हुलसी उर सूनु बियोग फबै॥ गोहराइ रमेस महेस बिधी। बिनती करि राखबि मोर निधी......*** ॥ ५॥ (मूल गुसाईंचरित) इस उद्धरणमें माताके हृदयके भाव झलक रहे हैं। ३—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'जैसे हुलसीने अपने उरसे उत्पन्नकर स्थूलरूपका पालन किया वैसे ही रामायण अपने उरसे उत्पन्न करके आत्मरूपका पालन करेगी। यहाँ रामवश होना प्रयोजन है।

सिव प्रिय मेकल-सैल-सुता सी। सकल सिद्धि सुख संपतिरासी॥ १३॥

शब्दार्थ—'**मेकल-सैल-सुता**'—मेकल-शैल अमरकण्टक पहाड़ है। यहाँसे नर्मदा नदी निकली है। इसीसे नर्मदाजीको 'मेकल-शैल-सुता' कहा। '**रेवती तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका।**' इति (अमरकोष १। १०। ३२)

अर्थ—श्रीशिवजीको यह कथा नर्मदाके समान प्रिय है। सब सिद्धियों, सुख और सम्पत्तिकी राशि है॥ १३॥

नोट—१सूर्यप्रसाद मिश्र—नर्मदाके समान कहनेका भाव यह है कि नर्मदाके स्मरणसे सर्पजन्य विष-नाश हो जाता है। प्रमाण—'**नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि। नमस्ते नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः॥**' (विष्णुपुराण); वैसे ही रामकथाके स्मरणसे संसारजन्य विष दूर हो जाता है।

नोट—२ *'सिव प्रिय मेकल सैल सुता सी'* इति। नर्मदा नदीसे प्रायः स्फटिकके या लाल वा काले रंगके पत्थरके अण्डाकार टुकड़े निकलते हैं जिन्हें नर्मदेश्वर कहते हैं। ये पुराणानुसार शिवजीके स्वरूप माने जाते हैं और इनके पूजनका बहुत माहात्म्य कहा गया है। शिवजीको नर्मदा इतनी प्रिय है कि नर्मदेश्वररूपसे उसमें सदा पड़े रहते हैं या यों कहिये कि शिवजी अति प्रियत्वके कारण सदा अहर्निश इसी द्वारा प्रकट होते हैं। रामकथा भी शिवजीको ऐसी ही प्रिय है अर्थात् आप निरन्तर इसीमें निमग्न रहते हैं।

सन्त उनमनी-टीकाकार लिखते हैं कि 'शिवजीका प्रियत्व इतना है कि अनेक रूप धारण करके नर्मदामें नाना क्रीड़ा करते हैं, तद्वत् इसके अक्षर-अक्षर प्रति तत्त्वोंके नाना भावार्थरूप कर उसीमें निमग्न रहते हैं। अतः मानसरामायणपर नाना अर्थोंका धाराप्रवाह है।'

कोई-कोई *'मेकल सैल सुता'* को द्वन्द्वसमास मानकर यह अर्थ करते हैं कि 'मेकलसुता नर्मदा और शैलसुता श्रीगिरिजा (पार्वतीजी) के सदृश प्रिय है।' पर इस अर्थमें एक अड़चन यह पड़ती है कि पूर्व एक बार *'गिरिनन्दिनि'* की उपमा दे आये हैं। दूसरे, नर्मदाके साथ पार्वतीजीको रखनेमें [श्रीजानकीशरणजीके मतानुसार] एकदम भावविरोध होता है—'कहाँ नर्मदा अर्थात् माताके समान कहकर उसी जगह पार्वतीजी अर्थात् पत्नीके समान कहना कितना असङ्गत होता है। रामकथाको भला परमभक्त शिवजी पत्नी-समान मानेंगे।' (मा० मा०) नर्मदा शिवजीको प्रिय हैं। प्रमाण यथा—'**एषा पवित्रविपुला नदी त्रैलोक्यविश्रुता। नर्मदा सरितां श्रेष्ठा महादेवस्य वल्लभा॥**' (सं० खर्रा) अर्थात् (वायुपुराणमें कहा है कि) यह पवित्र, बड़ी और त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदा महादेवजीको प्रिय है। पद्मपुराण स्वर्गखण्डमें नर्मदाकी उत्पत्ति श्रीशिवजीके शरीरसे कही गयी है। यथा—'**नमोऽस्तु ते ऋषिगणैः शङ्करदेहनिःसृते।**' (१८। १७) और यह भी कहा है कि शिवजी नर्मदा नदीका नित्य सेवन करते हैं। अतः *'सिव प्रिय'*······' कहा। पुनः, स्कन्दपुराणमें कथा है कि नर्मदाजीने काशीमें आकर भगवान् शङ्करकी आराधना की जिससे उन्होंने प्रसन्न होकर वर दिया कि तुम्हारी निर्द्वन्द्व भक्ति हममें बनी रहे और यह भी कहा कि तुम्हारे तटपर जितने भी प्रस्तरखण्ड हैं वे सब मेरे वरसे शिवलिङ्गस्वरूप हो जायँगे। (काशीखण्ड उत्तरार्ध)

नोट—३ *'सुख संपति रासी'* से नव निधियोंका अर्थ भी लिया जाता है। निधियाँ ये हैं—'**महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलश्च खर्वश्च निधयो नव।**' मार्कण्डेयपुराणमें निधियोंकी संख्या आठ कही है, यथा—'**यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ। मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः॥**' (६५। ५) '**पद्म**' निधि सत्त्वगुणका आधार है, महापद्म भी सात्त्विक है, मकर तमोगुणी होती है, कच्छपनिधिकी दृष्टिसे भी मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होती है, यह भी तामसी है, मुकुन्दनिधि रजोगुणी है और नन्दनिधि रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे संयुक्त है। नीलनिधि सत्त्वगुण और रजोगुण दोनोंको धारण करती है और शङ्खनिधि रजोगुण-तमोगुण-युक्त है। विशेष (२। १२५। १) *'हरषे जनु नव निधि घर आई'* तथा (१। २२०। २) *'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी'* में देखिये।

सद-गुन-सुर-गन अंब अदिति सी। रघुपति भगति प्रेम परमिति सी॥ १४॥

शब्दार्थ—अंब=माता। अदिति—ये दक्षप्रजापतिकी कन्या और कश्यप ऋषिकी पत्नी हैं। इनसे सूर्य, इन्द्र इत्यादि तैंतीस देवता उत्पन्न हुए और ये देवताओंकी माता कहलाती हैं (श० सा०)। *परमिति*=सीमा, हद। सदगुन (सद्गुण)=शुभगुण।

अर्थ—(यह कथा) सद्गुणरूपी देवताओं (के उत्पन्न करने) को अदिति माताके समान है वा अदितिके समान माता है। रघुनाथजीकी भक्ति और प्रेमकी सीमाके समान है*॥ १४॥

नोट—१'*सद्गुण*' जैसे कि सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, कोमलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरवीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कुशलता, कान्ति, धैर्य, मृदुलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान और निरहङ्कारता आदि। यथा—'**सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्। शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥ ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः। स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥ प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः। गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः॥**' (भा० १। १६। २६—२८)

नोट— २ '*अदिति सी*' कहनेका भाव यह है कि जैसे—(क) अदितिसे देवताओंकी वैसे ही श्रीरामकथासे शुभ गुणोंकी उत्पत्ति है। पुनः, जैसे (ख) अदितिके पुत्र दिव्य और अमर हैं; वैसे ही कथासे उत्पन्न सद्गुण भी दिव्य और नाशरहित हैं (पं० रा० कु०)। (ग) अदिति देवताओंको उत्पन्न करके बराबर उनके हितमें रत रहती है और जिस तरह हो उनका भोग-विलास-ऐश्वर्य सदा स्थित रखती है—देखिये कि देवहितके लिये इन्होंने भगवान्को अपने यहाँ वामनरूपसे अवतीर्ण कराया था। इसी तरह रामकथारूपी माता सद्गुणोंको उत्पन्न करके उनको अपने भक्तोंमें (कलिमलसे रक्षा करती हुई)स्थिर रखती है।

टिप्पणी—यहाँ प्रथम सद्गुणोंकी उत्पत्ति कहकर तब प्रेम-भक्ति कही। क्योंकि सद्गुणोंका फल प्रेमभक्ति है, जिसका फल श्रीसीतारामजीकी प्राप्ति और उनका हृदयमें बसना है, यथा—'*तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥*' (७। ४९) '*सब साधन कर एक फल जेहि जाने सो जान।*' (दोहावली) यह आगे कहते हैं।

नोट—३ श्रीजानकीदासजी '*रघुबर भगति प्रेम परमिति सी*' का भाव यह लिखते हैं कि 'रामकथाके आगे अपर प्रेमाभक्ति नहीं है।' संतसिंहजी लिखते हैं कि इससे परे प्रेमभक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ और नहीं है। इस दीनकी समझमें भक्ति और प्रेमकी सीमा कहनेका आशय यह है कि श्रीरामकथामें, श्रीरामगुणानुवादमें, श्रीरामचर्चामें दिन-रात बीतना भक्तके लिये भक्ति और प्रेमकी सीमा है—प्राणपतिकी ही कीर्त्तिमें निरन्तर लगे रहनेसे बढ़कर क्या है ? श्रीसनकादितक कथा सुननेके लिये ध्यानको तिलाञ्जलि दे देते हैं और ब्रह्मा आदि नारदजीसे बारम्बार श्रीरामचरित सुनते हैं।—'*बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत रामके गावहिं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥ सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान*''''' ॥' (७। ४२) यदि कथा प्रेम और भक्तिकी सीमा न होती तो ब्रह्मनिरत मुनि ध्यान छोड़कर उसे क्यों सुनते तथा श्रीभुशुण्डिजी भी नित्य कथा क्यों कहते ?

नोट—४ बैजनाथजी कहते हैं कि 'श्रीरामभक्तिके मूल प्रेमकी मर्यादा है। अर्थात् रामायणके श्रवण-कीर्तनसे परिपूर्ण प्रेम उत्पन्न होनेसे जीव भक्तिको धारण करता है। इसमें चातुर्यता प्रयोजन है।' पुनः,

* अर्थान्तर—(१) भगति प्रेम=प्रेमा-पराभक्ति। (करु०) (२)—'भगति प्रेम'''=भक्तिमें प्रेमकी अवधिके समान है। (रा० प०) 'भक्ति और प्रेम' ऐसा अर्थ करनेमें 'भक्ति' से सेवाका भाव लेंगे, क्योंकि यह शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे बना है।